Jagdish Chandra Bose

जगदीशचंद्र बसु

दिलीप कुलकर्णी

प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

भूमिका

बाशू दा—

एक वैज्ञानिक के तौर पर आपका कार्य दुनिया के किसी भी श्रेष्ठ वैज्ञानिक की ऊँचाई का था। पश्चिमी दुनिया जैसी सुविधाएँ एवं आर्थिक सहायता न होते हुए भी आपका कार्य तत्कालीन समय के पचास वर्ष आगे था।

आप ये उड़ान भर ही न सकें, इस हेतु आपके पंख काटने के दुष्टतापूर्ण प्रयास परकीय सरकार के कुछ सेवकों ने किए; तथा आपकी पहुँच का आकलन ही न हो पाए, पश्चिमी विज्ञान-मार्तंडों ने आपके मार्ग में बाधाएँ खड़ी कीं।

किंतु अन्याय-अवहेलना के इन आघातों को सहते हुए, प्रकृति के रहस्यों की खोज करते वैश्विक एकत्व की प्रतिष्ठापना करने का व्रत आप आजन्म, अविरत चलाते रहे।

खोजों के स्वामित्वाधिकार लेकर धनपति होना भी आपने नकारा बल्कि अपना ज्ञान दुनिया को अर्पित किया।

'छायां अन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे, फलान्यपि परार्थाय वृक्षाः सत्पुरुषाइव।'

> यह वर्णन आप पर शब्दशः लागू होता है।
>
> हे वृक्ष-पुरुष!
>
> तुमने रचे विज्ञान मंदिर की कोन शिला पर
>
> 'भारतेर गौरव ए जगतेर कल्याण कामनार।'
>
> कार्य करने का तुम्हारा संकल्प कुरेदा हुआ है।
>
> तुम्हारा चरित्र भी हमें
>
> ऐसे ही कार्य के लिए प्रेरित करे!

वैसे तो मैंने जगदीशचंद्र बसु का नाम सुना था। याद नहीं कि उनके बारे में पाठ्यक्रम में कभी एकाध पाठ था या नहीं।

किंतु, सन् 1982 में 'The Secret Life of Plants' नामक ग्रंथ जब पढ़ा, तब पहली बार बसु की महत्ता मुझे प्रतीत हुई। उसमें बसु पर एक दीर्घ प्रकरण है, जिसे पढ़कर मैं प्रभावित हो गया। बाद में पता चला कि यह प्रकरण पैट्रिक गिड्से द्वारा लिखे बसु-चरित्र का मात्र सारांश है; किंतु, फिर भी मुझे यह लेखन अधिकतम प्रभावी व प्रेरणादायी लगता है—किसी प्रकाशित चरित्र से भी।

लगभग उसी समय फ्रिट्जॉफ काप्रा का 'The Tao of Physics' नामक विख्यात ग्रंथ पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। आधुनिक भौतिक-विज्ञान एवं प्राचीन पौर्वात्य तत्त्वज्ञान के साम्य स्थलों का दर्शन कराते समय काप्रा कहते हैं—'विज्ञान में अब मन्वंतर सा हो रहा है। वह विश्लेषण से संश्लेषण की ओर, विशेषीकरण से एकात्मीकरण की ओर तथा द्वैतवाद से अद्वैतवाद की ओर जा रहा है। यह ग्रंथ पढ़ने पर मुझे बसु के कार्य का महत्त्व फिर एक बार याद आया। विज्ञान को द्वैत से अद्वैत की ओर ले जाने के लिए सबसे प्रभावी कार्य आइंस्टाइन ने अपने e=mc2 समीकरण से किया, यह तो सच ही है; किंतु बसु तो उनके 10-15 वर्ष पहले एकात्म विचार की आवश्यकता प्रतिपादित कर रहे थे, प्रयोगों-सबूतों के द्वारा अद्वैत का उद्घोष कर रहे थे।

फिर भी बसु को आइंस्टाइन के समान कीर्ति क्यों नहीं प्राप्त हुई?

—वे काले थे, इसलिए? एक गुलाम राष्ट्र के नागरिक थे, इसलिए? प्रसिद्धि-पराङ्मुख थे, इसलिए?

—यह सब जानने हेतु मैंने 'अमर चित्रकथा' के कॉमिक स्तर से लेकर पैट्रिक गिड्से के विद्वत्तापूर्ण बसु-चरित्र तक बहुत कुछ पढ़ा; संकलित कर रखा था। इससे ही यह बसु-चरित्र लिखने की प्रेरणा हुई।

बसु का विस्तृत चरित्र लिखने की भगिनी निवेदिता की इच्छा थी; किंतु उनका कम उम्र में ही देहांत होने के कारण वह अधूरा ही रहा। महान् व्यक्तियों का अधूरा कार्य पूरा करना आम आदमी के वश की बात नहीं होती, किंतु भगिनी निवेदिता की इच्छा—सबल रूप में भी क्यों न हो—मैं पूरा कर पाया, यह मेरा अहो-भाग्य है।

चरित्र-निवेदन में सभी स्थानों पर—'बसु' ऐसा नामोल्लेख है। मूल नाम 'वसु' बंगाली उच्चारण में 'बसु' हो गया। अंग्रेजों ने उसका 'बोस' कर दिया—हम क्यों करें? इसी भूमिका से रवींद्रनाथ का कुलनाम 'ठाकुर' ही रखा है। किंतु जहाँ विशेष संज्ञा के रूप में 'बोस' आता है—उदा. 'बोस इंस्टीट्यूट'—वहाँ उसे 'बोस' ही रखा है।

मैंने यह चरित्र पहले मराठी में लिखा, जो वर्ष 1999 में प्रकाशित हुआ। मैं बसु का चरित्र लिख रहा हूँ, यह समझते ही विवेकानंद केंद्र के कई कार्यकर्ताओं ने अपनी ओर से सहकार्य किया—श्री वासुदेवजी कलकत्ता गए थे, तब 'J.C. Bose Speaks' की प्रति मिलने पर उन्होंने मुझे वह भेज दी। सुमंत ने रवींद्रनाथ का 'चिट्ठीपन' भेजा। दिल्ली के प्रो. वासवानी ने गांधीजी के संकलित वाङ्मय में 'बोस' का उल्लेख होनेवाले खंडों की सूची तुरंत भेज दी।

अन्य अनेक लोगों का भी सहयोग इस लेखन हेतु प्राप्त हुआ है—बंबई स्थित बंगाली पत्रकार श्री सलिल घोष, शांति-निकेतन स्थित श्री पूर्णानंद चट्टोपाध्याय; मूल नागपुर के, लेकिन इस समय कलकत्ता में रहनेवाले डॉ. श्री भा. वर्णेकर; पुणे के श्री ह. देसाई; मेरे लिए बंगाली का लिप्यंतर एवं अनुवाद करनेवाले पुणे के श्री चक्रवर्ती आदि।

इस चरित्र-लेखन हेतु जिन ग्रंथ एवं पत्रिकाओं का सहयोग लिया गया, उनकी सूची अंत में है। इन सबके लेखक, संपादक तथा प्रकाशकों का मैं आभारी हूँ। बंबई के 'एशियाटिक' ग्रंथालय का; पुणे की 'गांधी स्मारक निधि' का तथा 'केसरी', 'सकाल' वृत्रपत्रों का तथा ग्रंथालयों का भी मैं अभारी हूँ।

पाठकों की प्रतिक्रिया की निरंतर अपेक्षा में,

—दिलीप कुलकर्णी

कुडावले 415712

तह. दापोली, जि. रत्नागिरि (महाराष्ट्र)

अनुक्रम

1

बसु खानदान का मूल ग्राम था—रारीखल। अब बांग्ला देश की राजधानी ढाका जिले के विक्रमपुर इलाके में यह छोटा सा गाँव है। ढाका के पश्चिम में 50 कि.मी. की दूरी पर स्थित विक्रमपुर सदियों पूर्व 'सेन' शासकों की राजधानी था। प्राचीन काल में वह संस्कृत विद्या का प्रसिद्ध केंद्र था।

इस क्षेत्र में भगवानचंद्र बसु 23 सितंबर, 1858 को मैमनसिंग जिले के उप-दंडाधिकारी नियुक्त किए गए। अपनी गर्भवती पत्नी भामासुंदरी देवी तथा बेटी सरलप्रभा को साथ लेकर भगवानचंद्र मैमनसिंग आए। भामासुंदरी देवी तब सात महीने की गर्भवती थीं।

30 नवंबर, 1858 को वह प्रसूता हुईं। पुत्र का जन्म हुआ। पहली थी कन्या, अब पुत्र प्राप्त हुआ। सबकी खुशियाँ फूली न समाईं। बच्चे का नामकरण हुआ—जगदीशचंद्र।

सन् 1857 के स्वातंत्र्य समर में विजयी रहने पर ब्रिटिश शासकों ने अपनी सत्ता पूरे भारत में दृढ़तर करना प्रारंभ किया था। उनके प्रशासन में 'जिला उप-दंडाधिकारी' का पद भगवानचंद्र बसु ग्रहण किए हुए थे। यह पद जितना सम्मान का था उतना ही खतरे का; क्योंकि उस इलाके में चोर, डाकू तथा लुटेरों की संख्या काफी अधिक थी। लेकिन भगवानचंद्र निडर आदमी थे। हाथी पर सवार होकर वे लुटेरों का पीछा करते और उन्हें पकड़ लेते। अपराधियों को इस तरह पकड़ना तथा उन पर मुकदमा चलाकर सजा देना उनके कार्य का ही एक हिस्सा था।

कारावास की सजा देनेवाले इस 'साहब' के लिए अपराधियों के मन में रोष होना स्वाभाविक ही बात थी। कई बार वे कारागृह से बाहर आने पर 'हिसाब चुकाने' का प्रयास करते। एक बार तो डाकुओं की एक टोली ने भगवानचंद्र के घर को ही रात में आग लगा दी। जान बचाने के लिए सारे लोग जैसे थे वैसे घर के बाहर भाग निकले। पड़ोस में रहनेवाले एक मुसलिम परिवार ने उन्हें बाहर निकलने में मदद की। किसी वस्तु को बाहर लाकर बचाना असंभव ही था। सब के बाहर आने पर पता चला कि छोटी सरल अंदर ही रह गई है। उसको बाहर लाने के लिए भगवान बाबू अंदर कूद पड़े। उन्होंने देखा कि सरल जागकर बिस्तर पर बैठी है और रोशनी का आनंद ले रही है। उसे उठाकर वे तुरंत बाहर ले आए। थोड़े ही समय में आग के शोले बन गए, फिर शोलों की राख। गायें, घोड़े जलकर मर गए। गहने पिघलकर सोने की गेंद-सी बन गए थे।

ऐसा होते हुए भी भगवानचंद्र ने किसी पर गुस्सा नहीं किया। वे न्यायप्रिय व कठोर अवश्य थे, लेकिन वैसे अधिकारी के अंदर एक कोमल मनुष्य का हृदय भी था। वे जानते थे कि कितनी कठिन स्थिति में ये लोग रहते हैं और चोरी-डकैती करने पर कैसे विवश हो जाते हैं। इसलिए सजा देते हुए भी भगवानचंद्र बसु के मन में उनके प्रति सहानुभूति भी रहती थी।

चार वर्ष बाद वे फरीदपुर में स्थानांतरित हुए, जहाँ की एक घटना उनके इस स्वभाव पर प्रकाश डालती है। ऐसे ही एक डाकू को उन्होंने कारावास की सजा सुनाई। सजा भुगतने के बाद वह जैसे ही बाहर आया, सीधा भगवानचंद्र के पास गया और बोला, "अब मैं क्या करूँ, आप ही मुझे बताएँ। मेरा नाम बदनाम हो चुका है। अब कोई मुझे नौकरी भी नहीं देगा। मैं कैसे कहाँ जाऊँ?"

भगवान बाबू का मन पिघल गया। उन्होंने उसको अपने ही घर में नौकर के काम में लगा दिया। इसमें एक काम था छोटे जगदीश को पाठशाला में पहुँचाना तथा वापस घर लेकर आना। जगदीश को कंधे पर बिठाकर वह उससे बातें करता। उसके पास डकैती के कई अनुभव थे, जो जगदीश का दिल बहला लेते, मानो हरेक जख्म के लिए उसके पास एक रोचक कथा थी। उन वर्षों के वर्णन को देखते तथा कथा सुनते जगदीश चकित हो जाता। उस डाकू के अंदर सहृदय मनुष्य था, जिसका स्मरण जगदीश को जन्म भर रहा।

ऐसे ही एक दिन भगवानचंद्र अपने परिवार के साथ किसी दूसरे गाँव के लिए नदी में नाव से जा रहे थे। नदी के दोनों छोर पर घना जंगल था। नदी पार करने के दौरान अचानक सामने से एक नौका तेजी से उनकी ओर आती दिखाई दी। सब जान गए कि वह डाकुओं की टोली है और अब उनसे कोई छुटकारा नहीं है। इतने में एक चमत्कार हुआ। वह जो नौकर डाकू था, वह उठ खड़ा हुआ और मुँह के सामने हाथ रखकर उसने कुछ सांकेतिक आवाज की। वह आवाज सुनते ही डाकुओं की वह नौका तुरंत मुड़ गई और रुख पलटकर तेजी से चल पड़ी। मालिक ने अपने नौकर पर जो विश्वास रखा था, वह सार्थक सिद्ध हुआ।

भगवानचंद्र के दयालुपन की ऐसी ही एक और कथा है। एक गाँव में एक वार्षिक मेला लगा था। उसमें उन्होंने पुलिस की कुश्ती की प्रतियोगिता घोषित की। दो-तीन चरणों के मुकाबलों के बाद पुलिस का एक जवान विजेता घोषित हुआ। दंगल देखने के लिए गाँव के लोग भी आए थे। उस जवान के जीतने के बाद गाँव के एक मल्ल ने कपड़े उतारकर उसको मुकाबले के लिए ललकारा। एक अच्छे मुकाबले के बाद पुलिस जवान की पीठ जमीन को लगाकर वह विजयी रहा।

अपनी इस पराजय से पुलिस के जवान अपमानित हुए और प्रतिशोध के मौके की प्रतीक्षा करते रहे। एक दिन किसी कारणवश पुलिस के जवान उस गाँव में गए और अकारण ही गाँववालों से झगड़ने लगे। बात से बात बढ़ती गई और मामला हिंसक बनने के लक्षण दिखाई देने लगे तो कुछ गाँववालों ने सीधे भगवानचंद्र के पास जाकर उन्हें परिस्थिति से अवगत कराया। वे तुरंत गाँव में आए और अपने जवानों को उन्होंने डाँटा। जिस पराभूत सिपाही के कारण यह तमाशा हुआ, उस पर वे बहुत ही क्रुद्ध हुए और उसकी लाठी उन्होंने

छीन ली। जैसे ही उन्होंने लाठी छीनी, उसके दो भाग अलग हुए और एक हिस्से में छिपाई तलवार बाहर निकली। इसका मतलब सभी तुरंत जान गए और इसका परिणाम वह सिपाही भी जान गया। उसने एकदम भगवानचंद्र के पाँव छुए और अपना अपराध स्वीकार करके क्षमा माँगने लगा, "अगर मेरी नौकरी चली गई तो सरकार! मेरे बीवी-बच्चों का क्या होगा?"

यह सुनकर भगवानचंद्र का मन द्रवित हो गया और फिर ऐसा कभी न करने की चेतावनी देकर उन्होंने उसे अपने काम पर लग जाने की आज्ञा दी।

इस प्रसंग में जिस मेले का उल्लेख है, उसकी परिकल्पना भगवानचंद्र की ही थी। वे जब फरीदपुर में थे, तब से उन्होंने ऐसे मेलों के आयोजन का आरंभ किया। उनमें अनाज, कपड़ा, हस्तकला की विभिन्न वस्तुओं आदि स्थानीय उत्पादों का विक्रय तो होना ही था, साथ-साथ कलाकारों के लोककलाओं के कार्यक्रम तथा कवि सम्मेलन भी हुआ करते थे। कुश्ती तथा अन्य खेलों की प्रतियोगिताएँ भी मेलों का ही एक हिस्सा थीं।

मेलों के आयोजन के पहले भगवानचंद्र का हेतु था—अपंग ग्रामीण अर्थव्यवस्था को नव-संजीवनी देना। उनका मत था कि खेती, ग्रामोद्योग एवं व्यापार को गति दिए बगैर हमारे देश की कुंठित अर्थव्यवस्था गतिमान नहीं होगी। इस हेतु वह अनेक उद्योग करते; प्रयोग करते, लेकिन अपने भावुक स्वभाव के कारण वह दूसरों पर तुरंत विश्वास रखते और ठगे जाते। उनका श्रम तथा प्रयोग निश्चित ही घाटे में जाते। बंबई में एक स्वदेशी कपड़ा-उद्योग स्थापित करने के लिए मीठी बातें बोलकर कुछ लोगों ने उनसे लागत के रूप में पैसा लिया। लेकिनपैसा मिलते ही सब गायब हो गए। फरीदपुर में उन्होंने किसानों के लिए एक संस्था स्थापित की। भूखे रहकर उसे चलाया। जब वह लाभ में आई, तब वे वहाँ से स्थानांतरित हो गये। असम में चाय के बागानों का प्रारंभ भगवानचंद्र ने किया। इस उद्योग में भी वे घाटे में आए। उनके भागीदारों को बाद में भारी मुनाफा मिलने लगा।

लेकिन ऐसे व्यक्तियों का मूल्यांकन मात्र आर्थिक निष्कर्षों पर करना गलत ही होगा। ऐसे व्यक्ति नींव के पत्थर होते हैं। उनके कष्ट, उनकी तकलीफों के आधार पर ही यश के मंदिर का निर्माण होता है। उनके घाटे में से ही आगे दूसरों को मुनाफे के मीठे फल प्राप्त होते हैं। जैसाकि जगदीशचंद्र ने आगे एक बार कहा, "उनके पिताजी की पराजय विजय से श्रेष्ठ थी।"

इसमें और भी एक बात है—ऐसे व्यक्तियों को घाटा-लाभ, मुसीबतें, कठिनाइयाँ, धोखाधड़ी जैसी बातों की परवाह नहीं रहती। वे प्रज्वलित मन के होते हैं। एक बार उन्होंने निश्चय किया कि यह काम उन्हें करना है तो पूरी लगन व शक्ति के साथ वह उसमें लग जाते हैं। लाभ-हानि के व्यावहारिक हिसाब-किताब आम आदमी करते हैं।

ऊपर उल्लेखित आर्थिक व औद्योगिक उपक्रमों के साथ भगवानचंद्र ने कई सामाजिक उपक्रम भी फरीदपुर के आस-पास आरंभ किए। आम लोगों के बच्चों के लिए उन्होंने एक बंगाली माध्यम की पाठशाला खोली। महत्त्व की बात यह है कि 5 वर्ष के जगदीश को

उन्होंने उस शाला में ही भरती किया। यह घटना इस दृष्टि से विशेष है कि उस जमाने में आम लोग अंग्रेजी माध्यम की पाठशाला में बच्चों को भरती करना प्रतिष्ठा का विषय मानते थे—शासकीय सेवक तो निश्चित ही। वही सचमुच शिक्षा है, ऐसी उनकी धारणा थी। बंगाल में तो यह अधिक ही प्रभावी थी। भगवानचंद्र के कार्यालय के बाबुओं तक ने अपने बच्चों को अंग्रेजी पाठशालाओं में भरती किया था। ऐसे समय में जगदीश का बंगाली पाठशाला में जाना सबको आश्चर्य की ही बात लगी होगी, इसमें संदेह नहीं।

लेकिन भगवान बाबू अपने मत पर दृढ़ थे। वे मानते थे कि बच्चों को अंग्रेजी के पहले मातृभाषा आनी चाहिए। उनके मन में मातृभाषा के बारे में गौरव की, आत्मीयता की, प्यार की भावना होनी चाहिए, न कि क्षुद्रता की। उनका यह भी मानना था कि अंग्रेजी पाठशालाओं में जानेवाले विद्यार्थी 'काले ब्रिटिशों' के लड़के थे। बंगाली विद्यालय के छात्र ही इस देश के स्थानीय समाज के सच्चे प्रतिनिधि हैं। मात्र उनके साथ पढ़ाई करने से ही जगदीश का आम जनता से परिचय होगा। उनके गुणावगुण से वह परिचित होगा तथा उनके द्वारा ही वह इस देश को अच्छी तरह से उसके वास्तविक रूप में जान पाएगा। भगवानचंद्र के ये सभी अंदाज सही निकले। 'बंगाली साहित्य सम्मेलन' का अध्यक्ष पद प्राप्त करके इतनी भाषा-सेवा जगदीशचंद्र ने की और उनका राष्ट्रप्रेम किसी हुतात्मा से कण भर भी कम नहीं था।

इस पाठशाला में जगदीश के एक तरफ भगवानचंद्र के कार्यालय के एक सेवक का लड़का बैठता तो दूसरी ओर मछुआरे का। वे दोनों जगदीश के घनिष्ठ मित्र थे। "उन मित्रों ने बताया कि पशु-पक्षियों की तथा जलचरों की कथाएँ मैं बड़े आश्चर्य के साथ सुनता था। प्रकृति को जानने की, उसके रहस्यों को खोजने की जिज्ञासा शायद इसमें से ही मेरे मन में जागी होगी"—जगदीशचंद्र ने आगे (1915 में) कहा है।

जगदीश के अपने इन मित्रों के साथ जिस तरह के संबंध थे, उनसे उनकी माँ का व्यक्तित्व उजागर होता है। भामासुंदरी देवी वैसे तो कर्मठ थीं, लेकिन 'अछूत' माने जानेवाले उसके ये मित्र उनके मोक्ष के मार्ग में मुसीबत नहीं बनते। जब वे जगदीश के घर आते, तब वह सबको एक साथ बिठातीं और खाना परोसतीं। माँ के मन में किसी तरह का भेदभाव न होने के कारण ही जगदीश के मन में 'अछूत' का भाव कभी पैदा नहीं हुआ। 'निचली जाति' जैसा कुछ होता है, यह जगदीश को पूर्णतः अमान्य था तथा हिंदू-मुसलिम कौम में समस्याएँ-झगड़े हैं, ऐसा भी उन्हें कभी नहीं लगा।

ऐसे छोटे बच्चों में अनेक बातों के बारे में कौतूहल जाग्रत् रहता है। वे बहुत कुछ सुनते हैं, देखते हैं, हाथों से करते हैं। जगदीश ठीक वैसा ही था। अपने मन में उभरी शंकाएँ पूछकर वह अपने पिताजी को परेशान-सा कर देता; "पिताजी, मैंने रात को आकाश में खूब तारिकाएँ देखीं, अब दिन में वो कहाँ गईं?" लेकिन वह शांत रहते हुए उसे समझाते।

"पिताजी, ये पेड़ हरे क्यों होते हैं?" वह पूछता रहता। उसके सभी प्रश्नों के उत्तर भगवान बाबू के पास भी नहीं रहते। लेकिन 'चुप बैठ बे' कहकर उसे कभी नहीं डाँटते, अपितु

जगदीश को प्रोत्साहित करते, "बेटे, तुम बड़े हो जाओ और स्वयं ही इन प्रश्नों के उत्तर खोज निकालो।"

स्वयं भगवानचंद्र सुगठित कद के थे और जगदीश के शारीरिक विकास के बारे में जागरूक तथा सचेत थे। उसके लिए उन्होंने एक घोड़ा लिया था, जिस पर सवार होकर जगदीश प्रतिदिन सैर करता।

एक दिन बड़ी मजेदार घटना हुई। फरीदपुर में घोड़ों की प्रतियोगिता थी। यह छोटा घुड़सवार उसे देखने गया। एक प्रेक्षक ने उसका मजाक उड़ाते हुए कहा, "बेटे, तुम तो बड़े चालाक घुड़सवार दिखते हो! क्या इस प्रतियोगिता में हिस्सा नहीं लोगे?" मासूम जगदीश ने तुरंत 'हाँ' कहा और प्रारंभ रेखा पर अपना घोड़ा खड़ा कर दिया। अपनी टाँगों से जोर से पकड़कर उसने टट्टू को तेजी से दौड़ाया। उसका अंतिम स्थान पर रहना स्वाभाविक था, लेकिन उसके साहस की सभी ने प्रशंसा की।

इतने में एक दर्शक का ध्यान उसकी टाँगों की ओर गया। वहाँ से खून बह रहा था। फिर भी जगदीश न चीख रहा था, न रो रहा था; लेकिन उसकी दुरवस्था देखकर कुछ दर्शकों ने उसे घर पहुँचाया।

घुड़सवारी के साथ जगदीश को और भी कुछ शौक थे। वनस्पतियों के फूलों आदि का वह बारीकी से निरीक्षण करता। वह बीज बोता और उनके उगने का तथा वृद्धि का निरीक्षण करता। पौधे जमीन के ऊपर ही हरे होते हैं, नीचे नहीं, यह उसका उस उम्र का निष्कर्ष था। उसे प्राणियों से भी प्यार था। अपने घर के पास ही उसने एक बगीचा तैयार किया था। उसमें गिलहरी तथा खरगोश पाले हुए थे। एक छोटे तालाब में मछलियाँ, मेढक तथा विषहीन साँप रखे थे। वह प्रतिदिन उन्हें खाना देता और वहाँ की सफाई करता। इस तरह से उसका प्रकृति के साथ संवाद चलता।

ऐसा ही उसका एक शौक था मिट्टी की वस्तुएँ बनाने का। उसकी दादी पूजा के लिए प्रतिदिन मिट्टी का शिवलिंग बनातीं। विसर्जन के बाद जगदीश उस मिट्टी से विभिन्न वस्तुएँ बनाता। उसकी यह कृति तो बिलकुल ही सामान्य होती थी, लेकिन मन में कल्पित आकारों को मिट्टी के माध्यम से मूर्त रूप देते-देते आगे पूरी दुनिया को अपने वैशिष्ट्यपूर्ण उपकरणों से आश्चर्य चकित करनेवाले एक वैज्ञानिक की उँगलियाँ विकसित हो रही थीं।

सन् 1869 में जब जगदीश 11 वर्ष का था, भगवानचंद्र बर्धमान स्थानांतरित हुए। उस समय उन्होंने सोचा कि अब जगदीश को कलकत्ता में शिक्षा के लिए भेजने का समय आ गया है।

जगदीश पहले तीन महीनों के लिए 'हेयर स्कूल' में पढ़ा और बाद में 'सेंट जेवियर्स कॉलेजिएट स्कूल' में। वहाँ के छात्रावास में ही वह रहता था।

इतने छोटे से बालक को इतनी दूर कलकत्ता में रखना भामासुंदरी के लिए कठिन बात थी। लेकिन भगवानचंद्र का कहना था कि अपने पैरों पर खड़े होने के लिए तथा सामर्थ्यवान् होने के लिए जगदीश का घर से दूर रहना आवश्यक है। जब तक वह माँ-बाप के पंखों से बाहर नहीं आता, स्वयं उड़ान नहीं भर पाएगा। वह बुद्धिमान था और अगर आगे चलकर उसे उच्च शिक्षा लेनी है तो अभी उसका अंग्रेजी का अध्ययन आरंभ होना आवश्यक है। इन्हीं विचारों के फलस्वरूप उन्होंने जगदीश को कलकत्ता में रखने का निर्णय किया।

जगदीश के लिए यह परिवर्तन काफी परेशानी का रहा। छात्रावास जैसे भावनाशून्य स्थान में रहते समय वह घर की यादों से बार-बार दुःखी होता। पाठशाला के तथा छात्रावास के लड़के प्रायः अंग्रेजों के थे। वे ऐंग्लो-इंडियन थे। उन सब में यह एक ही 'देसी' लड़का था, वह भी गँवार, जिसे अंग्रेजी बोलनी नहीं आती थी! इससे जगदीश के मन में एक हताशा की हीन भावना पैदा हुई। उदासीनता से वह घिर गया और मन-ही-मन कुढ़ने लगा।

ऐसा विद्यार्थी सहपाठियों से सताया न गया तो भी आश्चर्य ही! उसके सहपाठी उसे चिढ़ाते-पीटते। एक दिन तो हद हो गई। एक उद्दंड सहपाठी ने उसके चेहरे पर प्रहार किया। नाक पर हुए मुष्टि-प्रहार से खून बहने लगा। सारे छात्र उनका झगड़ा चटकारे ले-लेकर देखते रहे।

ठीक उसी समय जगदीश के मन में स्वाभिमान जाग्रत् हुआ। "अगर मैं इस समय प्रतिकार न करूँ तो मेरी कुछ खैर नहीं।" उसने सोचा, "मेरी मदद करनेवाला कोई है नहीं; मैं बिलकुल अकेला हूँ, कर्ण जैसा।" उसने बल इकट्ठा किया और उस उद्दंड लड़के पर पूरी ताकत से प्रहार किया। इस प्रहार से वह चौंक भी गया तथा वेदनाक्रांत भी। वह जैसे ही नीचे गिरा, जगदीश उसकी गरदन पर चढ़ बैठा और उसको फिर पीटने लगा। फिर कुछ विद्यार्थी बीच में पड़े और उन्होंने दोनों को अलग-अलग कर दिया। उस दिन के बाद किसी ने जगदीश को सताने की हिम्मत नहीं जताई। किसी से न डरते हुए लड़ने का सबक उस दिन जगदीश को जो मिला, वह जीवन भर उसके काम आया।

छात्रावास के विद्यार्थी अधिकतर महाविद्यालयीन थे। उम्र में वे सब जगदीश से बड़े थे। उनके साथ उसकी दोस्ती होना कठिन था, अतः वह अकेला ही रहता। इस अकेलेपन को मिटाने के लिए उसने छात्रावास के परिसर में ही एक बगीचा बनाया—बिलकुल फरीदपुर जैसा। एक नल से पानी लाकर उसने एक नहर सी बनाई। उस पर कुछ सेतु तैयार किए। नहर के तीरों पर बगीचा तो था ही, साथ कुछ पालतू प्राणी भी थे, जैसे खरगोश तथा कबूतर। उनकी सफाई करना, खाना-पीना, उनके साथ खेलना—इस सब में उसका अतिरिक्त समय मजे से बीतता।

छुट्टियों में उन दोस्तों की देखभाल कौन करेगा, यह सोचकर जगदीश उन्हें घर ले जाया करता। उनकी बहनें जगदीश की तथा उसके प्राणी मित्रों की राह देखतीं।

उस समय तक उनकी बहनों की संख्या काफी थी। सरलप्रभा उनसे बड़ी थी। उसका उल्लेख

पहले आ चुका है। चार बहनें उनसे छोटी थीं। उनके नाम ठीक संस्कृत काव्य की नायिकाओं जैसे थे—सुवर्णप्रभा, लावण्यप्रभा, हेमप्रभा तथा चारुप्रभा। एक छोटा भाई भी था—ज्योतीशचंद्र। ये सभी भाई-बहन जगदीश के साथ लाए प्राणी-पक्षियों की देखभाल करते। उनसे पाठशाला की तथा कलकत्ता की घटनाएँ सुनते तथा उनसे मस्ती-मजाक करते। इससे जगदीश की छुट्टियाँ मजे में बीता करतीं।

भगवान बाबू बर्धमान में आए। उसके अगले वर्ष 1870 में मलेरिया की महामारी फैली। हजारों लोग मरे। उनके बीवी-बच्चों का क्या होगा? भगवान बाबू चिंता में पड़ गए। तुरंत उनके अंदर का लोक-सेवक जाग्रत् हुआ। अपने घर के परिसर में एक तकनीकी शिक्षा देनेवाला केंद्र आरंभ किया। वहाँ कारीगर काम करते तथा बच्चे काम करते-करते सीखते। काफी लोग इससे लाभान्वित हुए।

जगदीश जब छुट्टियों में घर आया तो उसने इस कार्यशाला में बहुत सारे काम चलते देखे। वह एकदम उत्साहित हो गया। अनेक काम उसने सीख लिये। एक दिन वह माँ के पास गया और बोलने लगा कि "मुझे पीतल की कुछ पुरानी वस्तुएँ या छीजन दो।" उनमें से कुछ चीजें लेकर वह कार्यशाला में गया और उन्हें ढलवाकर उसने एक छोटी सी तोप बनाई। उसकी कारीगरी तथा कुशलता देखकर सभी आश्चर्यचकित हुए। कालांतर में पीतल की वह तोप बसु परिवार की एक संस्मरणीय धरोहर बनकर रही।

सन् 1875 में जब जगदीश 16 वर्ष का था, उसने मैट्रिक की परीक्षा दी। उसमें अच्छी तरह से उत्तीर्ण होने के बाद एक प्रवेश-परीक्षा देकर उसने कलकत्ता के ही सेंट जेवियर्स महाविद्यालय में प्रवेश लिया।

जगदीश की इच्छा प्राणी तथा वनस्पतियों का अध्ययन करने की थी। लेकिन वह पीछे छूट गई। उसमें भौतिक-शास्त्र की अधिकतम रुचि पैदा हुई। इसके कारण रहे एक प्राध्यापक—फादर लाफॉन्ट। वे भौतिक-शास्त्र बहुत ही अच्छी तरह से सिखाते थे तथा प्रयोगों की प्रस्तुति भी अति कुशलता से करते। जगदीश उनके व्याख्यान मंत्रमुग्ध होकर सुनता। प्रयोगों की प्रस्तुति एकचित्त होकर देखता। वह उसके अति प्रिय शिक्षक थे तथा वह उनका प्रिय विद्यार्थी। जगदीश के जीव-विज्ञान से पदार्थ-विज्ञान की ओर मुड़ने के लिए वह मुख्य कारण रहे। जीवन भर सामने रखें, ऐसा आदर्श उनके रूप में जगदीश को मिला।

जगदीश अध्ययन में तो अच्छा था ही, लेकिन वह मात्र 'किताबी कीड़ा' नहीं था। उसके कई शौक थे। वह खेल खेलता। घुड़सवारी तो उसका पुराना शौक था। कई अड़ियल घोड़ों द्वारा पीठ पर से फेंक देने के बावजूद उसके इस शौक में जरा सी भी कमी नहीं आई थी। एक अवकाश की अवधि में एक मित्र के निमंत्रण पर वह तराई क्षेत्र में गया। उसने वहाँ खुले जंगल में घूमनेवाले बाघ, हाथी तथा अन्य प्राणी भी देखे। साथ ही एक राजपूत सिपाही ने शिकार की कुछ बारीकियों से उसे अवगत कराया। लगभग एक महीना वह इस क्षेत्र में रहा था।

उसकी यह चाह देखकर छह महीने बाद पड़े अवकाश में एक असमिया मित्र ने उसे वहाँ आने का निमंत्रण दिया। मित्र के पिताजी का एक निजी जंगल था, जिसमें गैंडे, भैंसे आदि वन्य पशु थे। उनके शिकार के लिए जगदीश को निमंत्रण था। रेलवे स्टेशन से कुल 33 कि.मी. दूर मित्र का निवास था। वहाँ तक आने के लिए उसने एक डोला की व्यवस्था की थी।

जगदीश के घर पहुँचने पर मित्र ने उसका अच्छा आतिथ्य किया। पूरा दिन दोनों खूब खेले; लेकिन जैसे ही शाम ढली, जगदीश को बुखार चढ़ने लगा। रात में तो वह काफी तेज हुआ। उस जंगल में कुछ उपचार करना भी असंभव था। बुखार और अधिक बढ़ने से पहले ही कलकत्ता वापस जाना अच्छा था, लेकिन डोलावाले वापस चले गए थे। मात्र एक ही साधन अब उपलब्ध था—एक अड़ियल घोड़ा! लेकिन विकल्प के अभाव में और कोई सहारा था ही नहीं। जगदीश को मजबूरी से उसका ही उपयोग करना पड़ा। पीठ पर सवार होते ही घोड़े ने इतनी जोर से दौड़ना आरंभ किया कि मित्र से विदाई लेने तक के लिए जगदीश को अवसर नहीं मिला। अच्छा था कि उसे पहले से ही ऐसे घोड़ों का अनुभव था। राह में बाँस का एक सेतु था। उस पर से घोड़े ने इतनी जोर से दौड़ लगाई कि वह लगभग टूट गया। केवल आखिरी 10 कि.मी. घोड़ा शांति से चला। वह पूरा थक गया था। इस सवारी से जगदीश को काफी तकलीफ तो अवश्य ही हुई, किंतु उसके कारण वह स्थान पर तुरंत पहुँच भी सका। जब वह रेलगाड़ी में बैठा तब पूरी तरह शक्तिहीन था।

कलकत्ता पहुँचने पर काफी उपचार किए गए, किंतु उस समय उस बीमारी के लिए प्रभावी उपचार थे ही नहीं। इसलिए बुखार कम होने में काफी दिन लगे। अशक्तता तो महीनों बनी रही। परिणामतः उस वर्ष वह परीक्षा नहीं दे पाया। अगले वर्ष 1880 में उसने बी.ए. की परीक्षा दी। वह सफल तो रहा, लेकिन मनचाहा परिणाम प्राप्त नहीं कर पाया।

उस वर्ष बंगाल में घोर अकाल पड़ा। सरकार ने जगह-जगह सहायता केंद्र तो अवश्य खोले थे, किंतु फिर भी भूख से लोग भारी संख्या में मर रहे थे। इस स्थिति से भगवानचंद्र व्यथित थे। वे सुबह से रात तक घोड़े पर घूमते रहते और लोगों की मदद किया करते। वह साथ में खाने का डिब्बा ले जाते थे, लेकिन भूखे लोगों की मृत्यु देखकर उसे खाने को उनका दिल नहीं होता। अतः वह भी भूखे ही रहते।

उनकी वह भावना, लगन व आत्मीयता निश्चित ही स्पृहणीय थी। किंतु इस तरह की कार्यशैली तथा मनोवस्था का दुष्परिणाम उनकी सेहत पर हुआ। वह बीमार पड़े—इतना कि उन्हें आधे वेतन पर छुट्टी पर जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में अगर पहले की बचत रहती तो वह काम आती; लेकिन विभिन्न उद्योगों में आए भारी घाटों के कारण कोई पूँजी बची ही नहीं थी।

उनकी इस दुरवस्था में जगदीश इंग्लैंड जाने के सपने देख रहा था—वहाँ जाकर आई.सी.एस. या तो बैरिस्टर बनने के और पढ़ाई करके वापस आकर पिताजी को आर्थिक

दुरवस्था से बाहर निकालने के।

लेकिन भगवानचंद्र एक अलग ही प्रकार के मनुष्य थे। उनकी जगदीश के इंग्लैंड जाने की मनाही नहीं थी, अपितु उसके आई.सी.एस. या बैरिस्टर बनने का विरोध था। आई.सी.एस. बनकर आया व्यक्ति इस समाज से अलग हो जाता है और समाज से उसका रिश्ता टूटता है। यहाँ तक कि वह अपने ही समाज का, बांधवों का शत्रु भी बनता है, ऐसा उनका मत था। इसलिए ही स्वयं ब्रिटिशों की प्रशासनिक व्यवस्था में अधिकारी होते हुए भी भगवानचंद्र ने जगदीश के वैसे अधिकारी बनने का विरोध किया था। हाँ, अगर वह खेती, चिकित्सा जैसे विषयों का अध्ययन करके देशवासियों की सेवा में लग जाए तो उससे उनका विरोध नहीं था। जगदीश को भी उनकी यह मान्यता मान्य थी।

फिर भी खेती या चिकित्सा की शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने के लिए पैसे कहाँ से लाएँ? इस व्यावहारिक समस्या का हल किसी के पास नहीं था। भगवान बाबू पहले ही ऋणग्रस्त थे तथा अब और अधिक ऋण लेना उनके लिए असंभव था। और एक अड़चन उभर आई माँ की ओर से। जगदीश का छोटा भाई ज्योतीशचंद्र 10 वर्ष की उम्र में ही चल बसा था। उस घाव को किसी तरह से भुलाए हुए भामासुंदरी देवी जगदीश का विदेश जाना सह नहीं पा रही थीं। जगदीश उनकी भावना से भी सहमत था।

इन सब घटनाओं से जगदीश एक विचित्र-सी अवस्था में फँस गया। उसका युवा मन आसमान में उड़ान लेना चाहता था, लेकिन परिस्थिति ने उसके पंख बाँध रखे थे। मन-ही मन रोता वह नौकरी की खोज में घूमने लगा।

किंतु एक दिन अचानक परिस्थिति बदल गई। रात को सबके सो जाने पर माँ जगदीश के पास आकर बोली, "देखो बेटे, तुम्हारी ये विदेश जाने की जिद मेरी समझ में नहीं आती। फिर भी अगर तुम्हारी इतनी तीव्र इच्छा है तो तुम जाओ। मेरे पास कुछ पैसे हैं तथा जेवरात भी, मैं वह सब तुम्हें दे देती हूँ।"

माँ के इस वक्तव्य तथा भावना से जगदीश फूला न समाया। सौभाग्य से कुछ दिनों में प्रकृति में सुधार आने से भगवान बाबू भी काम पर लौटे। उन्हें पूर्ण वेतन मिलना आरंभ हुआ। अब जगदीश के विदेश जाने में कुछ बाधा नहीं रही। माँ के पैसे तथा जेवरात को छुए बगैर वह 1880 में लंदन विश्वविद्यालय में चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में भरती हुआ।

चिकित्सा-शास्त्र के पाठ्यक्रम में प्रविष्ट होने के लिए लंदन विश्वविद्यालय एक पूर्व-परीक्षा लिया करता था। प्राणि-शास्त्र तथा वनस्पति-शास्त्र की यह परीक्षा हुआ करती थी। उसमें उत्तीर्ण होने पर जगदीश को चिकित्सा-शास्त्र में प्रवेश मिला।

पहले सत्र में पढ़ाई के लिए विषय थे—भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र। दूसरे सत्र में प्राणि-शास्त्र के अंतर्गत शारीरिक रचना-शास्त्र का अध्ययन शुरू हुआ। उसके प्रयोग भी होते थे। एक दिन प्रयोग के लिए जगदीश जैसे ही प्रयोगशाला में पहुँचा, उसको अस्वस्थता महसूस हुई। वहाँ फॉर्मलीन आदि द्रव्यों की जो विशिष्ट गंध थी, उसे वह सह नहीं पा रहा था। उसकी अस्वस्थता देखकर प्राध्यापक ने पूछताछ की तो पता चला कि जगदीश को तेज बुखार है। उन्होंने अन्य छात्रों की मदद से जगदीश को अस्पताल में भरती किया। वहाँ डॉ. रिजर ने उसकी जाँच की। उसका पूर्व इतिहास पूछा। उससे उनको पता चला कि असम में दोस्त के यहाँ उसे तेज बुखार आया था। उस समय जिसे 'काली बीमारी' कहा जाता था, वही यह बुखार था। प्रयोग के द्रव्यों के कारण वह फिर उभर आया था। डॉ. रिजर के उपचार के बाद ठीक होकर जगदीश फिर महाविद्यालय जाने लगा।

लेकिन वह फिर से शरीर-शास्त्र की प्रयोगशला में जैसे ही गया, शव-विच्छेदन करते समय उसे फिर अस्वस्थता महसूस होने लगी। उसके प्राध्यापकों ने तथा डॉ. रिजर ने उसे सलाह दी कि "यह ठीक नहीं है। तुम्हें इस गंध से एलर्जी-सी है। यही उचित होगा कि तुम यह पाठ्यक्रम छोड़ दो तथा अन्य कुछ सीखो।"

जगदीश को अनिच्छा से यह सलाह माननी पड़ी। उसका जी छोटा हुआ, क्योंकि जो शिक्षा लेने के लिए वह इंग्लैंड आया, वह तो अब वह ले नहीं सकता था। अब इसके विकल्प की खोज अनिवार्य बन गई। उसके जीजाजी, सरलप्रभा के पति, आनंदमोहन बसु पहले भारतीय रैंग्लर थे। उनकी सिफारिश पर उसे कैंब्रिज के क्रिश्चियन महाविद्यालय में प्रवेश मिला। एक परीक्षा देकर उसने छात्रवृत्ति भी हासिल की। यह वर्ष था 1881।

कैंब्रिज जलवायु जगदीश के लिए अनुकूल रही। बुखार बीच-बीच में सिर उठाता, लेकिन जगदीश ने उसे जड़ से उखाड़ने का निश्चय किया। एक-एक करके सारी दवाएँ उसने बंद कर दीं। उसने नौकायन का अभ्यास आरंभ किया। वहाँ की ठंडक में भी पसीना बहने तक वह नौकायन करता रहता। धीरे-धीरे मन की खिन्नता दूर होने लगी। कैंब्रिज में एक

'नैचुरल क्लब' था। वहाँ गंभीर व्याख्यान तो होते ही थे, दोस्तों में हँसी-मजाक भी चलता था। इस गुट में रहकर जगदीश को अच्छा लगने लगा। अवकाश में वह मित्रों के साथ पैदल घूमने के लिए जाता।

पढ़ाई में तो वह अच्छा था ही, उसके कुछ अध्यापक बहुत ही अच्छा सिखाते। उतना अच्छा कि पदवी लेने के लिए अंतिम वर्ष कौन से विषय चुने जाएँ, इसकी उलझन में वह पड़ गया। माइकेल फॉस्टर शरीर-विज्ञान अच्छा सिखाते तो फ्रांसिस बेलफोर भ्रूण-शास्त्र। भू-शास्त्र के प्रो. लूजेस के व्याख्यान वह रुचि से सुनता। उसके सबसे प्रिय प्राध्यापक थे वनस्पति-विज्ञान के सिडने व्हाइंस तथा पदार्थ-विज्ञान के (लॉर्ड) रेले। विशेषकर लॉर्ड रेले के व्याख्यान सुनते समय तथा प्रयोगों की प्रस्तुति देखते समय उसको याद आती फादर लाफॉन्ट की। इन दो शिक्षकों के अध्यापन-कौशल से वह जीवन भर प्रभावित रहा।

अंततः सन् 1884 में जगदीश ने पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र तथा वनस्पति-शास्त्र विषयों के साथ कैंब्रिज की ट्रायपॉस पदवी प्राप्त की। उस अभ्यास के आधार पर उसी वर्ष उसे लंदन विश्वविद्यालय से बी.एस-सी. की पदवी भी प्राप्त हुई।

एक इच्छा की पूर्ति हुई थी। यद्यपि जिस वैद्यकशास्त्र को सीखने हेतु वह इंग्लैंड आया था, वह तो वह सीख नहीं पाया, लेकिन जो उसने सीखा वह उसकी रुचि का ही था। डॉक्टर बनने के बजाय वह उन विषयों को ही सीखे, ऐसा शायद नियति की ही इच्छा थी। इस शिक्षा का प्रयोग वह अब विद्यादान के लिए करने वाला था। कलकत्ता के किसी महाविद्यालय में प्राध्यापक होने की मंशा अब उसमें जाग चुकी थी। अब वह सिर्फ जगदीश नहीं रहने वाला था, वह बनने वाला था आचार्य प्रो. जगदीशचंद्र बसु!

3

जगदीशचंद्र बसु जब भारत लौटे, तब उन्हें उनकी शिक्षा के ज्ञान के योग्य नौकरी मिले, ऐसी पूरे परिवार की इच्छा थी। ऐसी नौकरी के लिए फिर एक बार उनके जीजा आनंदमोहन बसु ने ही प्रयास किए। आनंदमोहन द्वारा उनके अपने साले को ब्रिटेन के तत्कालीन पोस्टमास्टर जनरल एवं अपने सहपाठी प्रो. फॉसेट के लिए एक पत्र दिया। उन्होंने जगदीशचंद्र को बुलाकर उन्हें किस तरह की नौकरी चाहिए, यह जानकर तत्कालीन भारतमंत्री लॉर्ड किंबर्ले के लिए एक पत्र दिया। उसमें जगदीशचंद्र को शिक्षा विभाग में नौकरी देने का अनुरोध किया गया था। लेकिन भारतमंत्री के कार्यालय को भारत में कहाँ रिक्त स्थान है, इसकी ठीक जानकारी नहीं थी। अतः लॉर्ड किंबर्ले ने बसु को तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड रिपन के लिए एक पत्र दिया और भारत लौटकर वाइसराय के माध्यम से नौकरी प्राप्त करने को कहा।

जगदीशचंद्र शिमला जाकर वाइसराय से मिले। उन्होंने बसु का हार्दिक स्वागत किया। भारतमंत्री का पत्र पढ़ा और तुरंत 'इंपीरियल एजुकेशन सर्विस' में उन्हें भरती कराने का आश्वासन दिया। इस हेतु बंगाल प्रांत के शिक्षा-संचालक के नाम उन्होंने एक पत्र भी दिया।

उस समय शिक्षा-संचालक के पद पर थे सर एल्फ्रेड क्रॉफ्ट। वे इस पत्र से नाराज हुए। उनका मत था कि 'कोई भी काला आदमी' विज्ञान सिखाने के लायक नहीं होता। और फिर ये काला आदमी 'ऊपर' से आया था, इससे तो वे अधिक ही अपमानित हुए। उन्होंने जगदीशचंद्र से कहा, "जो लोग मेरे यहाँ आते हैं वे नीचे से ऊपर आते हैं, ऊपर से नीचे नहीं। और दूसरी बात यह है कि फिलहाल इंपीरियल सर्विस में रिक्त स्थान नहीं है। अतः आप प्रोविंशियल सर्विस में भरती हो जाओ और सेवा वरिष्ठता के अनुसार इंपीरियल सर्विस में आओ।"

बसु यह अपमान सह नहीं पाए, अतः उन्होंने तत्काल 'ना' कह दिया।

उधर वाइसराय राजपत्र पर ध्यान रखे हुए थे। बसु की नियुक्ति की सूचना काफी दिनों तक न छपने पर उन्होंने सर क्रॉफ्ट से पूछताछ की। ऊपर से पूछताछ होने पर मजबूर होकर क्रॉफ्ट ने बसु की नियुक्ति कलकत्ता के प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में की। यह नियुक्ति तात्कालिक थी—एक अनुपस्थित प्राध्यापक के स्थान पर। प्राचार्य टॉने ने भी बसु की नियुक्ति का विरोध किया था। लेकिन जो भी हो, बसु सन् 1885 में प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में पदार्थ-विज्ञान के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। सर अल्फ्रेड क्रॉफ्ट ने उन्हें स्पष्ट शब्दों

में सुनाया, "आप एक तो भारतीय हैं, युवा हैं और अभी-अभी शिक्षा प्राप्त करके लौटे हैं। आप छात्रों को कैसे सिखा पाओगे, यह मेरी समझ में नहीं आता। आप अनुशासन रख पाओगे या नहीं, यह भी बताना कठिन है। हम आपकी नियुक्ति तात्कालिक तौर पर ही कर रहे हैं। आपका काम देखकर आगे नियुक्ति को जारी रखने का विचार किया जाएगा।"

भारतीयों से ऐसा तुच्छतापूर्ण व्यवहार करने की ही ब्रिटिशों की रीति थी। नियुक्ति के बाद वर्णभेद के झटके का बसु को अनुभव करना पड़ा। उन दिनों भारतीय सेवकों को यूरोपीय सेवकों से दो-तिहाई वेतन ही दिया जाया करता था और बसु की नियुक्ति तात्कालिक होने के कारण उसका भी आधा वेतन उन्हें देय था—यानी मात्र एक-तिहाई। यह भेदभाव बसु को स्पष्टतः अमान्य था, इसलिए उन्होंने सत्याग्रह के मार्ग को स्वीकार किया। वे अपना काम ठीक तरह से करते, किंतु वेतन का धनादेश नहीं स्वीकृत करते। तीन वर्ष तक यह सत्याग्रह चला। यह समय उनके लिए अत्यंत कठिन रहा। पिताजी के सिर पर ऋण का भारी बोझ था, इसलिए घर की स्थिति तंगी की थी। इस पर सन् 1887 में उनका विवाह भी हो चुका था। लेकिन ऐसा होते हुए भी घरवालों ने जगदीशचंद्र को पूरा समर्थन दिया।

अध्यापक के नाते छात्रों के सामने खड़े रहने पर बसु की आँखों के सामने दो आदर्श शिक्षकों की प्रतिमाएँ थीं—फादर लाफॉन्ट तथा लॉर्ड रेले। 'मुझे उन जैसा ही आदर्श अध्यापक बनना है'—ऐसा निश्चय करके ही पूरे आत्मविश्वास के साथ वे पहले दिन से अध्यापन करने लगे। उनकी अध्यापन की रीति बहुत ही अच्छी थी और वैसा ही प्रयोगों का प्रस्तुतीकरण! दिन-ब-दिन विद्यार्थियों के बीच उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई और छात्र वर्ग में उपस्थिति पत्र लाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ने लगी। उनके दरशाए प्रयोग देखने के लिए आगे का स्थान पाने की होड़ छात्रों में लगती।

जो हीरा है, वह चाहे मुकुट में जड़ा जाए या कमरबंध में या कि चाहे पायल में, वह हीरा ही रहता है। उसे कहाँ स्थान देना है, यह जड़नेवाले पर निर्भर रहता है। प्राचार्य टॉने तथा शिक्षा-संचालक क्रॉफ्ट को तीन वर्ष पश्चात् अपनी गलती को स्वीकार करना पड़ा। बसु का ज्ञान, अध्यापन-कौशल, प्रयोगों के प्रस्तुतीकरण का कौशल तथा आत्यंतिक विद्यार्थीप्रियता उनके ध्यान में आई। फिर तो वे बसु का पक्ष लेने में पीछे नहीं रहे। बसु को सेवा में कायम करने की तथा पूर्वदिनांकित प्रभाव से पूरा वेतन देने की सिफारिश उन्होंने की। यह आदमी सत्य के लिए चाहे जितनी कीमत चुकाने वाला है, क्रॉफ्ट यह समझ गए तथा अंग्रेजों को झुकाने के लिए हमें उनके सामने सीधी गरदन से खड़े रहना चाहिए, यह बसु जान गए। उस समय से तीनों एक-दूसरे के मित्र बन गए। बसु ने उनके बारे में मन में कोई कटुता नहीं रखी।

इन तीन वर्षों में बसु ने अपने पिताजी के ऋण का बोझ हलका करने के विभिन्न प्रयास जारी रखे थे। रारीखल जाकर उन्होंने अपनी पैतृक जमीन तथा घर बेच डाला। यह करते समय उनके मन को न जाने कितनी यातनाएँ हुई होंगी! लेकिन दृढ़ मन से उन्होंने यह कार्य पूरा किया। आधी रकम से कुछ ऋण वापस किया।

सन् 1888 में बसु को तीन वर्ष का पूरा वेतन मिला। यह रकम भी उन्होंने ऋण वापस करने के लिए उपयोग की।

इन सभी उपायों से भगवानचंद्र के तीन-चौथाई ऋण की वापसी हुई। अब मात्र एक-चौथाई ऋण शेष रहा। साहूकारों ने ऋणों की वापसी की आशा ही छोड़ दी थी, अतः उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ। आनंदवश उन्होंने शेष ऋण माफ कर दिया। ऋण उन्होंने भले ही माफ कर दिया, लेकिन जगदीश ने स्वयं के लिए वह माफ नहीं किया। सन् 1889 में उन्होंने पूरे ऋण को ब्याज के साथ वापस किया। अपने पुत्र का यह कर्तव्य देखकर माँ-पिता धन्य हुए। सिर पर कोई बोझ न होने के बाद सुकून से सन् 1890 में भगवानचंद्र तथा 1891 में भामासुंदरी देवी ने यह संसार छोड़ा।

भगवानचंद्र ऋण मुक्त होकर चल बसे, यह तो सत्य था, किंतु 'व्यवहारहीनता' का जो धब्बा उन पर लगा था, वह मिट नहीं पाया। कई वर्ष बाद सन् 1915 में विक्रमपुर में आयोजित एक परिषद् में अपने पिता की जीवन-कथा कहने के बाद जगदीशचंद्र ने कहा, "वे उद्योगी व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने जो-जो प्रारंभ किया, उसमें उन्हें घाटा उठाना पड़ा—चाहे वह स्वदेशी कपड़ा मिल हो, संस्था हो या चाय के बागान हों। लेकिन मेरे पिताजी नींव के पत्थर थे। उनके प्रयत्नों के कारण ही आज ये सारे उद्योग वैभव प्राप्त कर सके हैं और मुनाफे में हैं। फिर उन्हें अपयश कैसे? ऐसे उपक्रमों में आरंभ में घाटा होना ही है। इन नींव के पत्थरों के आधार पर ही आगे यशोमंदिर खड़ा रहता है। देश खड़ा रहता है, ऐसे ही कुछ व्यक्तियों के बलिदान के आधार पर। अतः मेरे पिता का बलिदान व्यर्थ नहीं था। उनके प्रयास देखकर ही उनका यह बेटा बड़ा हुआ, यश व अपयश को समत्व दृष्टि से देखना सीखा। यह समझा कि कई अपयश, यश से भी महान् होते हैं। मेरे लिए मेरे पिता का जीवन सतत कृपा कर तथा निरंतर कृतज्ञ रहने लायक था।"

जगदीशचंद्र के स्थान पर अगर कोई दूसरा होता तो वह अपने पिता को 'ऋणग्रस्त', 'व्यवहारशून्य' कहता, जन्म भर गालियाँ देते रहता। उनका अपकार्य दुनिया को बताता रहता। जगदीशचंद्र के बारे में ऐसा नहीं हुआ। पिता के अपयश की उन्होंने ठीक तरह से मीमांसा की। अपने पिता के कर्तृत्व के बारे में वह न केवल निःशंक, अपितु अभिमानपूर्ण रहे। पिता के सिर पर का ऋण उन्होंने आखिरी पैसे तक वापस किया। इस तरह से उन्होंने पिता को आर्थिक ऋण से तथा स्वयं को पितृऋण से मुक्त किया।

इन्हीं तीन वर्षों के अंतराल में सन् 1887 में जगदीशचंद्र का विवाह होने का उल्लेख ऊपर आया है। ऐसे साहसी पुरुष के साथ पारिवारिक जीवन के सात फेरे चलने का धैर्य दिखाया था 'अबला', इस गलत नाम की एक सबला ने! भगवानचंद्र के विक्रमपुर के एक स्नेही दुर्गामोहन दास की यह द्वितीय कन्या। दास बाबू बंगाल के प्रसिद्ध समाज-सुधारक थे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए उन्होंने अत्यधिक काम किया। कलकत्ता में उन्होंने 'ब्राह्मो बालिका शिक्षालय' की स्थापना की। उनकी पहली बेटी का नाम 'सरला' था। उनका एक बेटा भी था—सतीश रंजन।

विवाह के समय अबला मद्रास में चिकित्सा-शास्त्र के तीसरे वर्ष की पढ़ाई कर रही थीं। विज्ञान की पार्श्वभूमि के कारण वह अपने पति के कार्य का महत्त्व समझ पाईं। जगदीशचंद्र को अबला से आजन्म प्रोत्साहन मिला।

विवाह के पश्चात् बसु ने कलकत्ता के नजदीक चंदन नगर (फ्रांसीसी उपनिवेश) में किराए पर एक घर लिया। वह गंगा के किनारे था। गंगा के विशाल क्षेत्र में नौकायन करने हेतु उन्होंने एक नौका भी खरीदी। वह तो नौकायन करते ही थे, कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी पत्नी को भी वह सिखा दी। अवकाश के दिन ये युगल नाव से गंगा में विहार करने जाते। उस समय की सामाजिक अवस्था ध्यान में लाने पर यह दृश्य निश्चित ही लोगों की आँखों में खटकनेवाला रहता होगा, इसमें कोई शक नहीं।

आगे चलकर तो यह प्रतिदिन की बात बन गई। सुबह प्रेसीडेंसी महाविद्यालय जाते समय जगदीश दा घर से नाव पकड़कर दूसरे किनारे जाते तथा नैहानी रेलवे स्टेशन पर रेलगाड़ी में बैठकर कलकत्ता पहुँचते। लेकिन दोपहर जब वे रेल से उतरते तो अबला दी अपनी नाव लेकर वहाँ उपस्थित रहती थीं। उसी से ये दंपती घर लौटते।

घर में जगदीश दा पत्नी की सभी कामों में मदद करते। कई काम तो उन्होंने ही अबला दी को सिखाए। सभी डिब्बों पर उन्होंने ही वस्तुओं के नाम की चिट चिपकाईं। हिसाब-किताब भी वही रखते। वैवाहिक जीवन के आरंभ का काल इस दंपती ने आनंद से बिताया। उस समय उनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही खराब थी, किंतु परस्पर विश्वास तथा प्यार के कारण ये कठिन दिन भी उनके लिए खुशी के रहे।

लगभग छह महीने चंदन नगर में रहने के पश्चात् श्री एवं श्रीमती बसु फिर कलकत्ता में वापस आए और माता-पिता के साथ रहने लगे। 2-3 वर्ष तक वह वहीं रहे, बाद में अपने दूसरे जीजा डॉ. मोहिनीमोहन बसु के साथ मधुआ बाजार रास्ते पर एक बड़े बँगले में रहने लगे। अब जगदीश बाबू ऋण-मुक्त थे तथा उन्हें पूरा वेतन भी मिल रहा था, इसलिए अब उनकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी।

उधर प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में जगदीशचंद्र का अध्यापन कार्य ठीक तरह से चल रहा था। सप्ताह में 26 घंटों का अध्यापन कार्य वह करते थे। लेकिन बसु की रुचि अनुसंधान कार्य में थी। अनुसंधान हेतु दो क्षेत्र उनके मन में थे—फोटोग्राफी (Photography) तथा विद्युत्-चुंबकीय तरंग (Electro-magnetic waves)। लेकिन महाविद्यालय की ओर से उन्हें अनुसंधान कार्य के लिए कोई सुविधा उपलब्ध नहीं होती थी। इसका कारण था फिर एक बार ब्रिटिशों का भारतीयों के बारे में दूषित मत। सुविख्यात रॉयल सोसाइटी का मत था कि 'विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक अनुसंधान ब्रिटिशों पर छोड़ा जाए और भारतीय वैज्ञानिक मात्र प्रायोगिक विषयों पर अनुसंधान करें।' इस नीति के कारण मौलिक अनुसंधान के लिए न तो धन उपलब्ध हो सकता था, न सुविधाएँ।

ऐसी निराशाजनक स्थिति में भी बसु ने अपना अनुसंधान कार्य जारी रखा था। पत्नी से

मिलनेवाला प्रोत्साहन ही एकमात्र आधार था। महाविद्यालय में एक 20 वर्गफीट के कमरे में उन्होंने स्वयं की 'प्रयोगशाला' स्थापित की थी। टीन के डिब्बे बनानेवाले एक कारीगर को साथ में लेकर उन्होंने अनेक विश्वसनीय उपकरण अपनी ही लागत से बनाए थे। दिन भर का अध्यापन कार्य समाप्त होते ही आलस्य त्यागकर वे प्रयोगशाला में जाते। वरिष्ठ प्राध्यापक एवं शिक्षा विभाग के अधिकारी उन्हें कहते, "क्यों इन बातों में समय गँवाते हो? इससे तो अच्छा है कि आप अध्यापन पर ही पूरा ध्यान केंद्रित करें। अनुसंधान-कार्य में शक्ति, समय एवं धन लगाना व्यर्थ है।" बसु ऐसे वक्तव्यों को अनसुना करते, लेकिन बार-बार ऐसी बातें सुनने पर वह दुःखी हो जाते। हर बार उनके मन में विचार आता, 'काश, अगर हमारी एक अनुसंधान संस्था होती! जहाँ हम मनचाहा अनुसंधान कर सकते!'

नियति उन्हें उसी दिशा में ले जा रही थी।

30 नवंबर, 1894 को वे 36 वर्ष के हुए। उस वर्षगाँठ के दिन उन्होंने एक प्रतिज्ञा की, "इससे आगे की अपनी आयु अनुसंधान कार्य में ही बिताऊँगा!" प्रतिकूल वातावरण, विदेशी सरकार, अनास्था, अपर्याप्त समय, धन की कमी—ऐसी वास्तविकताओं का ज्ञान होते हुए भी उन्होंने यह निर्णय किया। लेकिन यह भीष्म प्रतिज्ञा थी। जीवन के अंत तक बसु ने इसे निभाया। अपनी खोजें बेचकर पैसा कमाना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। गोरे सत्ताधीशों के सामने वह दृढ़तापूर्वक खड़े रहे। पराधीनता में कुचल रहे इस भारत-भू की गोद से वैश्विक दर्जे का एक ऐसा पहला वैज्ञानिक पैदा हुआ बसु की इस प्रतिज्ञा से!

अनुसंधान कार्य के लिए स्वयं को समर्पित करने की प्रतिज्ञा जब बसु ने ली, उस समय वे 'विद्युत्-चुंबकीय तरंग' (Electro-magnetic waves) के इस नए क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुए थे। सन् 1863 में मैक्सवेल नामक पदार्थ वैज्ञानिक ने इस तरह की तरंगों का अस्तित्व गणित के आधार से सिद्ध किया था। ऑलिवर लॉग नामक ब्रिटिश वैज्ञानिक ने सन् 1887-88 में ऐसे 'मैक्सवेलीय तरंग' तार के द्वारा इधर-से-उधर भेजे जा सकते हैं, ऐसा प्रयोगों से सिद्ध किया। सन् 1888 में ही हट्र्ज नाम के इस जर्मन वैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया कि तरंग तार के बिना भी भेजे जा सकते हैं। उनकी गति एक प्रकाश जितनी ही होगी, ऐसा मैक्सवेल ने गणित के आधार पर कहा था। हट्र्ज के प्रयोगों में ऐसा ही दिखाई दिया। उस समय से ये तरंग 'हट्र्जीय तरंगों' के नाम से संबोधित की जाने लगीं।

ऑलिवर लॉग हट्र्ज द्वारा किए प्रयोगों की दिशा में ही अपना अनुसंधान कार्य कर रहे थे। सन् 1894 के आरंभ में हट्र्ज का देहांत हुआ। उस वर्ष जून में हट्र्ज के कार्य का विवेचन करनेवाला एक भाषण लॉज ने 'रॉयल इंस्टीट्यूशन' में दिया। यह भाषण जल्द ही 'The work of Hertz and some of his successors' इस शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उसे काफी प्रसिद्धि मिली और देश-विदेश के वैज्ञानिक इन तरंगों पर प्रयोग करने लगे। फ्रांस, जर्मनी, रूस जैसे देशों में अनुसंधान प्रारंभ हुआ। सन् 1895 में रदरफोर्ड ने कैंब्रिज में बेतार संदेश प्रेषण का यशस्वी प्रयोग किया। इटली में मार्कोनी का ध्यान इस विषय ने आकृष्ट किया और वह भी प्रयोगों में जुट गए। लॉग की पुस्तक से बसु भी इस विषय पर सोचने लगे। अपने अनुसंधान कार्य के लिए उन्होंने यह विषय चुना।

ये सारे प्रयोग विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का स्वरूप तथा गुणधर्म जानने के बारे में थे। ये तरंगें प्रकाश जैसी ही हैं या उससे अलग, इसका अध्ययन सभी कर रहे थे। प्रकाश की किरणों का दर्पण पर से परावर्तन (reflection) होता है। लोलक में से गुजरने पर उनका अपवर्तन (refraction) होता है। कुछ विशिष्ट द्रव्यों से गुजरने से उनका ध्रुवीकरण (polarization) होता है। विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का वर्तन भी ऐसा ही है। इसकी जाँच करने हेतु सभी के प्रयोग जारी थे। इन तरंगों का एक 'तरंग दैर्घ्य' (wavelength) होता है तथा एक बारंबारता (frequency)। जैसे ही बारंबारता बढ़ती है, तरंगों की लंबाई कम होती जाती है। हट्र्ज ने 'डेसीमीटर' लंबाई की तरंगों का (लंबाई 0.66 मीटर तथा 6.6 डेसीमीटर) अध्ययन किया था, तो लॉग ने 'सेंटीमीटर' लंबाई की तरंगों का (लंबाई 8 सेंटीमीटर)। बसु ने 5 मिलिमीटर लंबाईवाली तरंगों का अध्ययन प्रारंभ किया। जिन तरंगों की लंबाई

अधिक होती है, (उदाहरणतया रेडियो तरंग) उनकी पहुँच पदार्थ द्वार तक रहती है, लेकिन ऐसी तरंगों का एक किरणपुंज (pencil) सा नहीं बन पाता, इसलिए वे प्रकाश के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लायक नहीं होते। ऐसी तरंगें प्रयोगशाला की दीवारों पर से परावर्तित होकर ग्रहण-कार्य में बाधा भी डालती हैं, इसलिए बसु ने कम लंबाई वाली (रडार) तरंगों का अध्ययन करना तय किया।

बसु का कहना था कि अगर प्रकाश एवं अन्य विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का साम्य हमें सिद्ध करना है तो दोनों प्रयोगों में उपयोजित साधन एक ही होने चाहिए। वह उदाहरण देते ध्रुवीकरण का। प्रकाश का ध्रुवीकरण करने के लिए कुछ प्राकृतिक स्फटिकों का उपयोग किया जाता था, लेकिन दीर्घ लंबाईवाली तरंगों का ध्रुवीकरण करने के लिए तार की जाली उपयोग में लाई जाती थी। स्फटिक हो या जाली—दोनों चीजें ध्रुवीकारक हैं, यह सत्य है; लेकिन वे समान नहीं हैं। इसलिए बसु ने ऐसे प्राकृतिक पदार्थों की खोज आरंभ की, जिसमें से इन दोनों तरंगों का ध्रुवीकरण हो। उन्हें मध्यम आकार के कुछ स्फटिक प्राप्त भी हुए।

जगदीशचंद्र ने इन प्रयोगों के लिए उपकरणों की जो रचना की, उसका आकार एकदम छोटा था—10 सें.मी. X 15 सें.मी. और ऊँचाई मात्र 18 सें.मी. थी। उसके तरंग-प्रेषित्र में (wave-transmitter) उन्होंने एक गंधक के लेंस (lens) का उपयोग किया था। वक्रीभूत तरंगों को किरणपुंज समांतर बनाने में वह उपयोगी था। इस लेंस जैसी ही प्रेसीडेंसी महाविद्यालय की इमारत के एक गोलाकार खंभे में से भी विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का वक्रीभवन करके दिखाया।

यद्यपि प्रकाशीय गुणधर्मों के अध्ययन के लिए लघु तरंगदैर्घ्य की तरगें अधिक उपयुक्त थीं, लेकिन वह तीव्र मात्रा में उपलब्ध नहीं होती थीं। इस अड़चन को दूर करने के लिए बसु ने प्रेशित्र में सुधार किया। उन्होंने दो अर्धगोलों के बीच एक प्लेटिनम का गोला रखा। इस रचना से तरंगों का जो किरणपुंज मिलता, वह मात्र 1 सें.मी. व्यास का होता था। ऐसे बारीक किरणपुंज आधुनिक लेजर तरंगों की ही प्राथमिक अवस्था थी।

बसु ने जिस तरह से प्रेषित्र में सुधार किया, उसी तरह एक अत्यंत संवेदनक्षम संदेश-ग्राहक (receiver) भी उन्होंने बनाया। ऐसे उपकरण खोजने-बनाने का जगदीशचंद्र का कौशल अद्वितीय रहा। आगे उन्होंने अपने प्रयोग पश्चिमी देशों में जब प्रस्तुत किए, तब उनके द्वारा खोजे उपकरण देखकर वैज्ञानिक चकित हो जाते। बचपन में दादी माँ के विसर्जित किए शिवलिंग की मिट्टी से विभिन्न वस्तुएँ बनाने से उनका जो मनो-स्नायविक (psycho-motor) विकास हुआ, वही उनके आगे के अनुसंधान में काम आया।

जो संदेश-ग्राहक बसु ने बनाया उसमें स्प्रिंगों का उपयोग किया गया था। लॉज तथा मार्कोनी ने जो संदेश-ग्राहक बनाए थे, उनमें दो इलेक्ट्रोड (electrodes) के बीच लोहे तथा निकेल के टुकड़े रखे थे। इन ग्राहकों में कमी ऐसी थी कि अच्छा काम करने के लिए उन्हें बीच-बीच में बैल जैसे थपकाना पड़ता। बसु के स्प्रिंग के ग्राहक से यह कमी दूर हो गई। लंबे समय तक वह पूरी संवेदनशीलता से काम करता और बाद में एक स्क्रू को थोड़ा घुमाने से

वह फिर समान संवेदन-क्षमता से काम करता। इस उपकरण में बिजली का दाब घटाने-बढ़ाने की सुविधा भी थी। बसु ने लिखा है—"इस संदेश-ग्राहक की संवेदनशीलता काफी बढ़ाई जा सकती है और इसलिए अत्यंत नजाकत भरे प्रयोग (विशेषकर ध्रुवीकरण संबंधी) विश्वसनीयता से किए जा सकते हैं।"

उन्होंने सूक्ष्म विद्युत चुंबकीय तरंगों तथा अर्द्धचालक संधियों से संबंधित अभिनव अनुसंधान किए थे। सन् 1977 में नोबेल पुरस्कार विजेता विले फ्रेंसिस मॉट ने कहा था कि 'जगदीशचंद्र बसु अपने समय से लगभग 60 वर्ष आगे थे और उन्होंने p-टाइप एवं n-टाइप अर्द्धचालकों के अस्तित्व का पूर्वानुमान कर लिया था।

आरंभ में बसु का शोधकार्य भौतिकी में विद्युत चुंबकीय सूक्ष्म तरंगों के क्षेत्र में होता रहा। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। नवंबर 1894 में कलकत्ता में उन्होंने एक सार्वजनिक सभा के सामने मिलीमीटर परास की सूक्ष्म तरंगों की सहायता से दूर स्थित गन पाउडर को प्रज्वलित किया और एक घंटी को बजा दिया। एक प्रदर्शन कलकत्ता के टाउन हॉल में लेफ्टिनेंट गवर्नर सर विलियम मैकेंटनी की उपस्थिति में किया गया था। इन तरंगों को उन्होंने अदृश्य आलोक कहा था, जो वास्तव में माइक्रोतरंगों का रूप था। इनकी सहायता से बिना किसी तार के संवाद प्रेषण किया जा सकता था। बोस का प्रथम शोधपत्र Polarization of electric rays by double refracting crystals पर था, जो मई 1895 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल को भेजा गया था और उनका द्वितीय शोधपत्र On a new electro-polariscope पर था, जो लॉर्ड रैले के माध्यम से रॉयल सोसाइटी ऑफ लंदन को (अक्तूबर 1895) में भेजा गया था। यह दिसंबर 1895 में Electrician नामक जर्नल में प्रकाशित हुआ था। इस पर Englishmen समाचार पत्र में (18 जनवरी, 1896 में) एक टिप्पणी छिपी थी—"should Professor Bose succeed in perfecting and patenting his 'Coherer', we may in time see the whole system of coast-lighting through out the navigable world revolutionised by a Bengali scientist working handed in our Presidenty College University."

बसु ने अपने संसूचक को विकसित करने की योजना बनाई, परंतु उसे पेटेंट कभी नहीं कराया। उल्लेखनीय है कि बसु के एक अमेरिकी मित्र सारा कैपमेन बुल ने उनसे बड़ा आग्रह करके सितंबर 1901 में Detection for Electrical Disturbances को पेटेंट कराने के लिए अमेरिका में पेटेंट प्रार्थनापत्र भिजवाया था, जिसके फलस्वरूप बसु को 29 मार्च, 1904 को पेटेंट मिला था (US Patent 755840)।

जिन तरंगों का अध्ययन बसु कर रहे थे, वे तरंगें तार बिना भी एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती हैं, यह उनकी विशेषता थी। 'अगर ऐसा है तो क्या इन तरंगों का उपयोग संदेश-प्रेषण के लिए या दूरी से कुछ कार्य करने के लिए किया जा सकता है?' ऐसा विचार बसु के मन में आया। 'अगर ये तरंगें दीवारों एवं इमारतों में से भी पार हो सकती हैं तो क्या एक कक्ष से प्रेषित की गई तरंगों से दूसरे कक्ष में कुछ कार्य करते दिखाए जा सकते हैं? यह उसका अगला विचार था। बसु तुरंत काम में जुट गए। एक कक्ष से प्रेषित तरंगों से

बगल वाले कक्ष में रखे एक मापक का काँटा हिला। फिर उन्होंने दूसरा प्रयोग किया। उसी महाविद्यालय में प्राध्यापक रहे प्रफुल्लचंद्र राय के कक्ष में उन्होंने एक जनित्र रखा। उसके बंद दरवाजे का रक्षण कर रहे थे फादर लाफॉन्ट! जनित्र से विद्युत्-चुंबकीय तरंग निर्माण होते ही दूसरे एक प्राध्यापक के कक्ष में विद्युत्-परिपथ पूर्ण होकर एक पिस्तौल से गोली उड़ी। इस तरह से ये दुनिया के शायद पहले प्रयोग थे।

सन् 1895 के आरंभ में ये प्रयोग किए गए। कुछ ही महीनों में बसु ने इस प्रयोग को आम जनता के लिए प्रस्तुत करने की सोचा। कलकत्ता के 'टाउन हॉल' में प्रयोग देखने के लिए एकत्रित हुआ। अपने 'अदृश्य आलोक' शीर्षक के एक बंगाली लेख में जगदीशचंद्र ने इस कार्यक्रम का वर्णन इस तरह किया है—"इस प्रयोग के समय लेफ्टिनेंट गवर्नर सर विलियम मैकेंजी मुख्य अतिथि थे। सभागृह में निर्माण किए गए तरंग उनके मोटे शरीर तथा 3 दीवारों से गुजरकर 75 फीट की दूरी पर स्थित एक कक्ष में पहुँचे और वहाँ उन्होंने तीन प्रकार के 'उत्पात' किए—एक पिस्तौल से गोली उड़ी, एक तोप से गोला फेंका गया तथा बारूद के एक ढेर में चिंगारी छुआकर उसका विस्फोट हुआ।"

इस प्रयोग में जगदीश दा ने तरंगों के प्रक्षेपण के लिए एक छोटी सी दंडी काठी पर धातु की तश्तरी लगाई थी। बेतार संदेशवहन में अब जिस 'एंटीना' का उपयोग किया जाता है, उसका जन्म बसु के इस प्रयोग में है।

बेतार संदेशवहन के इस प्रकट (दुनिया के पहले?) प्रयोग की यशस्विता से सर मैकेंजी अत्यंत हर्षित हुए और उन्होंने बसु का प्रोत्साहन कर 1,000 रुपए का पारितोषिक उद्घोषित किया।

अनुसंधान के क्षेत्र में जितना महत्त्व अनुसंधानकर्ता का होता है उतना ही उसे तथ्यों के सामने रखने का होता है। आम जनता के सामने लोकप्रिय स्तर पर, उसकी प्रस्तुति यह एक बात होती है, वैज्ञानिक निबंधों के माध्यम से विशेषज्ञों के सामने उनकी यह दूसरी प्रस्तुति थी। किसी भी अनुसंधानकर्ता के लिए इस दूसरे प्रकार का महत्त्व अधिक होता है, क्योंकि जब तक तथ्यों द्वारा परीक्षण या पुष्टि नहीं होती तब तक अनुसंधान को मान्यता नहीं मिलती। लोकप्रिय स्तर पर विज्ञान-प्रसार करनेवाले बसु ने इस दूसरे प्रकार की अनदेखी नहीं की। अपना विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के बारे में तब तक किया गया अनुसंधान वैज्ञानिकों के सामने रखने के लिए उन्होंने पहला निबंध लिखकर 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' को भेज दिया। यह घटना है मई 1895 की थी, यानी जून 1894 के लॉज के भाषण को एक वर्ष पूरा होने के अंदर की। इस निबंध का शीर्षक था—On Polarization of Electric Rays by Double-Refracting Crystals।

इस निबंध के बाद भी बसु का अनुसंधान कार्य जारी था। उस पर आधारित दूसरे निबंध का विषय 'गंधक का वक्रीभवन-निर्देशांक' तय करना था। उन्होंने इसे लंदन की 'रॉयल सोसाइटी' को भेजा! और उसकी सिफारिश भी की थी स्वयं लॉर्ड रेले ने।

उसी वर्ष लंदन के एक नियतकालिक ने 'Electrician' बसु का एक निबंध प्रकाशित किया। 'On a New Electro-polariscope' शीर्षक इस निबंध में बसु ने सूक्ष्म तरंगों का प्रेषित्र, संदेशग्राहक तथा पटसन के धागे से बने कार्यक्षम ध्रुवीकारक (Polarizer) की रचना एवं कार्य के बारे में जानकारी दी थी। पत्रिका के संपादक ने इन उपकरणों के बारे में भूमिका पर टिप्पणी लिखी थी। इसका संदर्भ देकर कलकत्ता के 'The Englishman' समाचार-पत्र ने 18 जनवरी, 1896 के अंक में कहा—"खराब मौसम के कारण जब जहाज और दीपगृह में संपर्क की समस्या पैदा होती है तब विद्युत्-चुंबकीय तरंगें अत्यधिक उपयोगी होंगी। ऐसी तरंगों के प्रेषित्रों के बारे में फिलहाल किसी तरह की अड़चन नहीं है—समस्या है जहाजों पर के संदेश-ग्राहकों के संबंध में। लेकिन अब यह समस्या लगभग समाप्त हो चुकी है। प्राध्यापक बसु ने जो उत्कृष्ट संदेश-ग्राहक बनाया है, वह क्षमता तथा दूरी दोनों उद्देश्यों के लिए पर्याप्त है। आज तक बने संदेश-ग्राहकों में सागरी प्रवास की अड़चनों पर काबू पाने की उसकी क्षमता सर्वोपरि है। अगर प्राध्यापक बसु उसमें परिपूर्णता लाकर उसके स्वामित्वाधिकार ले तो प्रेसीडेंसी महाविद्यालय में अकेले ही अनुसंधान कर रहे इस बंगाली अनुसंधानकर्ता के कार्य से जल्द ही एक क्रांति-सी हो जाने की उम्मीद है।

बसु ने 'उसमें परिपूर्णता लाने' का काम अवश्य किया, किंतु 'उसके स्वामित्वाधिकार लेने' का विचार तक उनके मन में आया नहीं।

इस अनुसंधान के साथ ही इन तरंगों के संपर्क के लिए व्यावहारिक उपयोग कैसे हो सकता है, इसके बारे में भी जगदीश दा ने सोचना आरंभ किया था। महाविद्यालय से लगभग डेढ़ कि.मी. की दूरी पर स्थित अपने घर तक बेतार संदेश भेजने की तकनीक पर उन्होंने सन् 1895 में ही कार्य आरंभ किया था, लेकिन उसी समय इंग्लैंड के दौरे पर जाने का मौका मिलने से ये प्रयास उन्हें अधूरे छोड़ने पड़े।

इस दौरे के पहले दो-तीन घटनाएँ ऐसी घटीं, जो गोरे राज्यकर्ता भारतीयों के बारे में आमतौर पर कैसी क्षुद्र मनोवृत्ति रखे हुए थे, इस पर प्रकाश डालता है। सभी गोरे लोग ऐसे थे, ऐसा तो नहीं। उनमें भी कुछ उदार व खुले मन वाले थे। कुछ लोगों ने बसु को प्रोत्साहित किया, उनकी सहायता की उन्हें खुले आसमान में उड़ान भरने के लिए प्रेरणा दी। लेकिन कुछ ने उनके पंख काटने का भी प्रयास किया। ऐसे विरोधाभास से भरे बसु के जीवन के ये दिन थे।

जगदीशचंद्र ने लॉर्ड रेले की सिफारिश पर रॉयल सोसाइटी को एक निबंध भेजा था, यह बात पहले बताई है। यह अनुसंधान कार्य सोसाइटी को इतना महत्त्वपूर्ण लगा कि उसने निबंध तो स्वीकार किया ही, मौलिक अनुसंधान के लिए उसे सरकार से जो अनुदान प्राप्त हुआ करता था, उसमें से कुछ रकम बसु को देने का निर्णय भी किया। यह समाचार बसु को पत्र द्वारा स्वयं लॉर्ड रेले ने दिया। बसु ने वह पत्र फादर लाफॉन्ट को दिखाया। फादर ने तुरंत एक विज्ञप्ति लिखकर समाचार-पत्रों को भेज दी। 12, 14 दिसंबर, 1895 के 'दि इंग्लिशमैन', 'दि स्टेट्समैन' आदि में यह प्रकाशित हुई। इससे एक भारतीय वैज्ञानिक के

गौरव की खबर चारों ओर पहुँची।

इसके कुछ महीने पश्चात् और एक गौरवपूर्ण घटना घटी। बसु ने लंदन विश्वविद्यालय को 'डॉक्टर ऑफ साइंस' पदवी के लिए एक प्रबंध भेजा था—'The Determination of the wave-length of Electric Radiation by Defraction Grating'। विद्युत्-चुंबकीय तरंगों की लंबाई तय करने के लिए हट्‌र्ज सहित बहुतों ने प्रयोग किए थे, जिनके निष्कर्ष परस्पर विरोधी थे। लेकिन बसु के निष्कर्ष निर्दोष समाधानकारक थे। डी.एस-सी. पदवी प्राप्त करने के लिए सामान्य पद्धति ऐसी थी कि विद्यार्थी द्वारा उसके किए अनुसंधान पर आधारित एक प्रबंध विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया जाए। बाद में उस पर आधारित उसकी परीक्षा ली जाए। अगर प्रबंध की गुणवत्ता कुछ विशेष रही तो परीक्षा लिये बिना ही पदवी प्रदान की जा सकती थी। बसु का शोध-प्रबंध विश्वविद्यालय को ऐसे ही विशेष गुणवत्ता का लगा और तथ्यों द्वारा परीक्षा न लेकर उसने बसु को 'डॉक्टर ऑफ साइंस' की पदवी प्रदान की। अत्यंत अपवादात्मक—काले आदमी के लिए तो दुष्प्राप्य ही—यह सम्मान बसु को प्राप्त हुआ। उनके अनुसंधान का महत्त्व तथा ऊँचाई इससे ज्ञात होती है।

लॉर्ड रेले ने यह शोध-प्रबंध रॉयल सोसाइटी को प्रकाशनार्थ भेजा। सोसाइटी ने एक पखवाड़े में इसे स्वीकृत किया तथा उसी वर्ष (1896) प्रकाशित भी किया।

इसके दरम्यान लॉर्ड रेले भारत आए थे। वे जब कलकत्ता आए तब बसु ने उन्हें अपनी छोटी प्रयोगशाला देखने के लिए आमंत्रित किया। अपने इस लाडले शिष्य के अनुसंधान से वह परिचित थे ही, लेकिन जिस छोटे से कमरे में सहायक या अधिक सहायता के बिना और जिस तरह यह अनुसंधान कार्य चल रहा था, यह देखकर वे आश्चर्यचकित रहे। महाविद्यालय की ओर से अध्ययन कार्य में उन्हें कुछ रियायत नहीं मिलती। इतना ही नहीं, प्रायः सभी के मन में बसु के संबंध में एक ईर्ष्या का ही भाव है, यह बसु ने लॉर्ड रेले को निश्चित ही बताया होगा। लेकिन लॉर्ड रेले का मन विद्वेष-रहित था। अपने इस असामान्य विद्यार्थी को सहायता देने तथा आगे लाने के लिए हमेशा तत्पर रहे। जगदीशचंद्र के कार्य का वैश्विक दर्जा जानकर रेले ने बसु को ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों में जाने का, वहाँ चल रहे अनुसंधान कार्य देखने का तथा वैज्ञानिकों से विचार-विमर्श करने का सुझाव दिया। लगता है, यह सुझाव बसु ने गंभीरता से लिया, क्योंकि इस हेतु उनके प्रयास लगभग इसी समय आरंभ हुए दिखाई देते हैं।

गौरव के ऐसे प्रसंग में ही जीवन के संस्मरणीय सुखद क्षण होते हैं। किंतु जीवन का वस्त्र, मात्र सुख के धागों से नहीं बुना जाता, ऐसा अनुभव बसु को फिर एक बार हुआ। एक विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक का एक प्राध्यापक की प्रयोगशाला देखने के लिए आना, यह वास्तव में प्रेसीडेंसी महाविद्यालय के लिए भी गौरव की बात थी लेकिन हुआ उलटा ही। संचालक को यह उनका अपमान लगा। "आपने किसकी अनुमति से लॉर्ड रेले को प्रयोगशाला देखने हेतु आमंत्रित किया?" ऐसा एक 'कारण बताओ' नोटिस तथा साथ में अनुशासन-भंग के लिए सजा की धमकी देनेवाला पत्र बसु को प्राप्त हुआ। एक 'देसी' शिक्षक गोरे सहकर्मियों से ऊँचा होता है, यह कैसे?

सम्मान तथा अवहेलना के साथ-साथ अनुभव देनेवाली और एक घटना लगभग इसी कालावधि में घटी। लेकिन इस बार उसका कारण रहे स्वयं बसु और उनकी तेजस्विता। हुआ कुछ ऐसा कि बंगाल प्रांत के महाविद्यालयों में विज्ञान विषय की लोकप्रियता बढ़ाने हेतु लेफ्टिनेंट गवर्नर ने एक योजना बनाई। बसु के कार्य तथा विदेश में प्राप्त हो रहे उनका सम्मान देखकर गवर्नर महोदय ने जगदीश दा को उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनके अनुसार बसु को दैनिक अध्यापन-कार्य से मुक्ति मिलने वाली थी। अनुसंधान के लिए अधिक समय मिलने वाला था तथा वेतन में वृद्धि भी होने वाली थी। बसु को कार्य करना था—शासकीय महाविद्यालयों में प्रयोगशालाओं के निर्माण का तथा छात्रों को संबोधित करके उनके मन में विज्ञान संबंधी रुचि निर्माण करने का और अनुसंधान करनेवाले छात्रों का मार्गदर्शन करने का। यह कार्य बसु की रुचि व योग्यता का था। 'आपको अधिकृत पत्र तुरंत ही मिल जाएगा', उन्हें बताया गया।

इस दरम्यान एक प्रसंग ऐसा हुआ कि यह योजना जन्म के पहले ही दम तोड़ बैठी। बसु उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय की विधि सभा के शासन-नियुक्त सदस्य थे । एक प्रस्ताव पर उन्होंने अन्य शासकीय सदस्यों से अलग मतदान किया। दूसरा एक बार शासन की ओर से एक प्रस्ताव रखा जाने वाला था, किंतु बसु उस सभा के लिए उपस्थित नहीं रह पाए। इन दो घटनाओं के कारण शासकीय अधिकारी क्षुब्ध हुए। उन्होंने बसु से स्पष्टीकरण माँगा। बसु ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "शासन-नियुक्त सदस्य होने के नाते अगर सद्विवेक छोड़कर उसी के पक्ष में मत देने का बंधन उन पर है तो इससे बेहतर यह है कि वे त्यागपत्र दे दें।" उनके इस तेजस्वी उत्तर से शिक्षा संचालनालय के अधिकारी गरम न होते तो आश्चर्य होता!

जब यह मामला गवर्नर के कानों में पड़ा तब वे असमंजस में पड़े—अगर नई योजना के अनुसार बसु की नियुक्ति करनी है तो उपर्युक्त घटना उसमें बाधक है और नियुक्ति न की जाए तो योग्यता खतरे में आएगी ही, साथ-साथ बसु की अवमानना भी होगी। लेकिन बसु की नियुक्ति को शिक्षा विभाग से हो रहे कड़े विरोध के कारण अंततः गवर्नर योजना रद्द करने को विवश हो गए। बसु को यह निर्णय बताते समय गवर्नर मैकसा ने उनकी दृढ़ता तथा सद्विवेक की सराहना की और किस कारण उन्हें योजना रद्द करने का निर्णय करना पड़ा, यह भी बताया। जगदीशचंद्र पर हुए अन्याय का आंशिक परिमार्जन करने के लिए उन्होंने बसु को तब तक अनुसंधान कार्य के आए खर्चे का शासन की ओर से भुगतान करने का प्रस्ताव रखा, लेकिन बसु ने यह प्रस्ताव विनम्रतापूर्वक अमान्य किया। अंत में लेफ्टिनेंट गवर्नर ने भावी अनुसंधान-कार्य के लिए बसु को वार्षिक 2,500 रुपए का अनुदान देने की पेशकश की।

गवर्नर द्वारा ऐसे अनुदान का निर्णय लिया जाए, इसके पीछे शिक्षा-संचालक सर अल्फ्रेड क्रॉफ्ट थे। इसी समय उनकी बसु को और एक मदद हुई। उनके विदेश दौरे के लिए दैनिक अध्यापन कार्य से थोड़ी मुक्तता हो, विदेशी अनुसंधान-संस्था के वैज्ञानिकों से वार्तालाप हो, 'ब्रिटिश एसोसिएशन' के सितंबर 1896 में आयोजित अधिवेशन मे उपस्थिति—ऐसे

कई कार्य इस दौरे के पीछे थे। लेकिन उसके लिए अवकाश, पैसा जैसी समस्याएँ उनके सामने थीं। तब तक की नौकरी की लगभग एक वर्ष की अर्जित छुट्टी उनके पास थी। लेकिन वह मान्य नहीं हुई। इस वैज्ञानिक को शासन द्वारा प्रतिनिधि के रूप में भेजा जाना चाहिए, ऐसा उनका मत रहा। भारत सरकार की इस प्रस्ताव को मान्यता देने की संभावना न के बराबर थी, इसलिए 'बंगाल प्रांतिक सरकार यह करे', ऐसा प्रस्ताव उन्होंने मा. गवर्नर के पास भेजा। 16 जून, 1896 को लिखे इस पत्र में सर क्रॉफ्ट ने लिखा—"बसु का अनुसंधान कार्य, उसका महत्त्व, महान् वैज्ञानिकों द्वारा हुआ उनका स्वागत, रॉयल सोसाइटी द्वारा उनके निबंध प्रकाशित होना—इन सबसे आप भलीभाँति परिचित हैं। शासकीय सेवा में रत ऐसे वैज्ञानिक को अर्जित छुट्टी लेकर इंग्लैंड जाना पड़े, इससे शोभनीय यह होगा कि वे शासन के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ जाएँ। सितंबर में होनेवाले सम्मेलन में वह निबंध पढ़ें तथा इस दौरे में यूरोप जाकर वैज्ञानिकों से भी मिलें। इसका उपयोग आगामी काल में यहाँ सुसज्जित प्रयोगशाला के निर्माण में होगा।"

मैकेंजी ने यह प्रस्ताव तुरंत मान्य किया। अपने 30 जून के पत्र में उन्होंने कहा—"ऐसे अपवादात्मक गुणवत्ता के वैज्ञानिक को प्रोत्साहन देना शासन का कर्तव्य ही है। बसु छह महीनों के लिए विदेश जाएँगे। अपने कार्य के बारे में भाषण देंगे। भारत सरकार तथा भारतमंत्री को इसकी सूचना तार द्वारा दी जा रही है।"

बसु के दौरे में अब कोई बाधा नहीं रही। अब वे लिवरपूल परिषद् में सम्मान से सहभागी होने वाले थे। सत्ताधारियों से तंग आकर नहीं, अपितु सत्ताधारियों के अधिकृत प्रतिनिधि के रूप में!

अब बसु अपने इस दौरे की तैयारी में लग गए। भाषण के विषय तय होने लगे तथा उपकरण नया रूप लेने लगे।

महाविद्यालय में बाँधकर रखे पंख अब विस्तारित होकर पश्चिमी आकाश में उड़ान लेने वाले थे। घुटनेवाले श्वास प्रशंसा के शब्दों से खुलने वाले थे।

सन् 1896 के सितंबर में बसु इंग्लैंड पहुँचे। लिवरपूल में ब्रिटिश एसोसिएशन की परिषद् में पढ़े निबंध से बसु ने एक वैज्ञानिक के रूप में इंग्लैंड में अपना स्थान बनाया। 'Electric Waves' विषय पर उनका भाषण तथा प्रयोगों की प्रस्तुति इतनी अच्छी रही कि लॉर्ड केल्विन जैसे महान् विज्ञानी अपने स्थान से उठकर महिलाओं के विभाग में गए और उन्होंने श्रीमती बसु का अभिनंदन किया।

लॉर्ड केल्विन का यह मात्र दिखावा या क्षणिक आवेग नहीं था। शासन की ओर से बसु को क्या सहायता दी जा सकती है। इस पर उनकी सोच चल रही थी। एक महीने में ही 23 अक्तूबर, 1896 को उन्होंने तत्कालीन भारतमंत्री लॉर्ड हैमिल्टन को एक पत्र लिखा—"बसु द्वारा कलकत्ता में किए प्रयोग श्रेष्ठ गुणवत्ता के हैं। अत्यंत कम साधन तथा सुविधाओं के आधार पर किए गए इन प्रयोगों की इंग्लैंड में पहले ही सराहना हो चुकी है। पिछले मास ब्रिटिश एसोसिएशन की परिषद् में उनसे बातचीत करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। बाद में मेरी प्रयोगशाला देखने हेतु वे आए, उस समय भी हमारी लंबे समय तक बातें हुईं। अब मैं यह निश्चय से कह सकता हूँ कि अगर एक सुसज्जित प्रयोगशाला स्थापित की जाती है तो भारत में वैज्ञानिक अनुसंधान गतिमान होगा।"

ब्रिटेन के समाचार-पत्र उस समय भारत के संबंध में तुच्छतापूर्ण वृत्तांत ही प्रकाशित किया करते थे, लेकिन बसु के अनुसंधान के बारे में उन्होंने गौरव भरे शब्दों में लिखा।

इसी दौरे में 'रॉयल इंस्टीट्यूशन' नाम की एक प्रसिद्ध संस्था ने बसु को 'शुक्रवार शाम के व्याख्यान' के लिए आमंत्रित किया। यह उनके लिए एक सम्मान ही था। 29 जनवरी, 1897 को हुए इस व्याख्यान में 'विद्युत्-चुंबकीय तरंग तथा उनका ध्रुवीकरण' विषय पर बसु बोले। अपने कुशल उपकरणों के माध्यम से बसु ने प्रयोंगो सहित अपना अनुसंधान वैज्ञानिकों के सामने प्रस्तुत किया। इस व्याख्यान के दौरान एक रोचक प्रसंग घटा, जिसका वर्णन बसु ने अपने 'अदृश्य आलोक' लेख में इस प्रकार किया है—"अगर कोई पुस्तक इन तरंगों की दिशा के समांतर रखी गई तो वह तरंगों का पूरा शोषण कर लेती है; लेकिन लंब दिशा में पकड़ने पर पुस्तक में से ध्रुवीभूत तरंग बाहर आती है। इस प्रयोग की प्रस्तुति के लिए मैंने ब्रॅडशॉ—रेल समय-सारिणी—की पुस्तक सामने रखी। इस समय-सारणी में रेल के 10,000 से अधिक समय इतने बारीक अक्षरों में छापे जाते थे कि शायद ही किसी को कुछ समझ में आता। जब मैंने ब्रॅडशॉ को तरंगों से समांतर पकड़ा तब उसमें से कुछ भी तरंग बाहर नहीं आई। लंब दिशा में उसे पकड़ने पर ध्रुवीभूत तरंग दूसरी ओर से निकली।

यह प्रयोग देखते ही पूरा सभागृह हँसने लगा। मुझे तो इसका कारण नहीं समझ में आया। बाद में लॉर्ड रेले ने मुझे बताया, "आज तक ब्रॅडशॉ पढ़कर किसी के दिमाग में कुछ प्रकाश नहीं पड़ा था। वह पढ़ने के लिए ब्रॅडशॉ को कैसे पकड़ना चाहिए, यह दिखाकर आपने इस पूरे देश को उपकृत किया है।" आगे उन्होंने कहा, "ऐसा कहा जाता है कि मेरी वैज्ञानिक पुस्तकें पढ़ने पर भी पाठकों के दिमाग में प्रकाश नहीं पड़ता। अब मुझे लगता है कि उन्हें समझने के लिए वे लंब दिशा में पकड़ी जानी चाहिए।"

इस व्याख्यान का समापन करते समय बसु ने एक आशा जताई—"जिस भूमि से मैं आया हूँ, उसने मानवीय ज्ञान की कक्षाएँ विस्तारित करने का कार्य एक समय किया। उसे अब सदियाँ बीत गई हैं। उसके बाद वहाँ तमोयुग छाया हुआ है। वह कार्य आज पश्चिम कर रहा है, लेकिन मेरे मन में एक ऐसी आशा जाग रही है, जो मेरा विश्वास है, आपके भी मन में जाग रही है कि जल्द ही ऐसा समय आने वाला है, जब इस कार्य में अपना दायित्व निभाने हेतु पूर्व फिर एक बार अपनी कमर कसने वाला है। वह समय दूर नहीं, जब न केवल पूर्व या न केवल पश्चिम, अपितु पूर्व एवं पश्चिम दोनों ज्ञान-विस्तार का कार्य करेंगे। उसके लाभ सभी के लिए उपलब्ध करेंगे।"

जगदीशचंद्र का यह आशावाद सचमुच भविष्यवाणी ही था। इस भविष्य को साकार करनेवाले उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी को आकार देनेवाले जो अनेकानेक अनुसंधानवेत्ता उन सदियों के संधिकाल में भारत माँ की गोद में पैदा हुए, उनमें स्वयं बसु एक थे। अपने कर्तव्य के प्रति निस्संदेह तथा स्वाभिमानी होनेवाले एक ज्ञानोपासक को साफ-साफ दिखाई दे रहा यह भविष्य का चित्र था। महत्त्व की बात यह है कि 'शुक्रवार शाम के इस व्याख्यान' से पश्चिमी वैज्ञानिक भी बसु के कर्तृत्व के बारे में निस्संदेह आश्वस्त हुए।

लॉर्ड केल्विन द्वारा भारतमंत्री को लिखे पत्र का ब्योरा पहले दिया गया है। रॉयल इंस्टीट्यूशन के इस व्याख्यान के बाद अनेक वैज्ञानिकों ने मिलकर उसी आशय का एक संयुक्त पत्र भारतमंत्री को भेजा। उस पर हस्ताक्षर थे रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष लॉर्ड लिस्टर, लॉर्ड केल्विन, प्रो. क्लिफ्टन, प्रो. फ्रिट्जगेरॉल्ड, डॉ. ग्लॅडस्टन, प्रो. पॉयंटिंग, प्रो. थॉमसन, सर विलियम रॅमसे, सर गॅब्रियल स्टोक्स, सर विलियम रेकर आदि के। इस पत्र से भारतमंत्री काफी प्रभावित हुए और उन्होंने मई 1897 में भारत सरकार को पत्र लिखकर ऐसी प्रयोगशाला स्थापित करने हेतु आगे की कार्यवाही करने के लिए कहा।

इस पत्र का आगे क्या हुआ होगा, यह पूर्वानुभव से कोई भी जान जाएगा। लॉर्ड एल्गिन उस समय वाइसराय थे। उन्होंने बसु को बताया कि उन्हें यह प्रस्ताव अत्यंत पसंद आया है और वह बंगाल की प्रांतिक सरकार को आगे की कार्यवाही के लिए तुरंत भेज रहे हैं। वह प्रस्ताव तुरंत आ भी पहुँचा, लेकिन फाइल में बंद पड़ा रहा। अंततः केंद्रीय सरकार ने ही बसु को वार्षिक 2,000 रुपए का अनुदान अनुसंधान-कार्य के लिए मंजूर किया।

विदेशी सत्ताधीश तथा नौकरशाही में होनेवाले क्षुद्र मन के लोग इनके द्वारा बार-बार

होनेवाली ऐसी रोकथाम से या डाली जानेवाली बाधाओं से बसु तंग आ जाते थे, लेकिन उनकी उद्विग्नता या हठबल किसी के खिलाफ अपशब्द या गुस्से के रूप में कभी प्रकट नहीं हुआ, उन्होंने वह ऊर्जा विस्फोट में व्यर्थ न गँवाकर ठीक से संवाहित करके स्वयं की अनुसंधान संस्था के निर्माण कार्य में लगाया। अपमान के प्रत्येक प्रसंग से उनके मन का बिखराव नहीं, अपितु संस्था-निर्माण का निर्धारण तीव्रतर होता गया।

ब्रिटेन के बाद बसु फ्रांस गए। मार्च 1897 में उनके वहाँ दो व्याख्यान हुए—एक सॉरबाँ विश्वविद्यालय में तथा फ्रेंच फिजिकल सोसाइटी में। दूसरे व्याख्यान की अध्यक्षता सोसाइटी के अध्यक्ष प्रो. कोर्नू ने की। अपने अध्यक्षीय संबोधन में बसु की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा, "जिस संस्कृति ने कला एवं विज्ञान के तेजोदीप हाथ में लिये हुए थे तथा दो सहस्र पूर्व जो सभी संस्कृतियों में अग्रणी थी, उस संस्कृति की प्राचीन परंपराएँ आप पुनः पुनरुज्जीवित करें। हमें आप पर गर्व है तथा आपके कार्य के लिए हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ।"

वहाँ से जगदीशचंद्र जर्मनी गए। वहाँ उनके व्याख्यान बर्लिन, कील आदि अनेक स्थानों पर हुए। वहाँ के वैज्ञानिक बसु के अनुसंधान कार्य से कितने प्रभावित हुए थे, इसका प्रमाण देनेवाला यह एक प्रसंग एक नौसिखिया युवा वैज्ञानिक बर्लिन के प्रो. वॉटबुर्ग के पास गया और बोला, "विद्युत्-चुंबकीय तरंग उनका प्रेषण एवं ग्रहण, यह पूरा विषय मुझे अत्यंत रुचिपूर्ण लगता है, लेकिन वह काफी संदिग्ध लगता है। मैं इस क्षेत्र में कार्य करना चाहूँगा।" इस पर प्रो. वॉटबुर्ग ने कहा, "यह विषय उत्सुकता जगानेवाला है, यह तो सही बात है, लेकिन उसमें कोई संदिग्धता नहीं है। एक बसु नाम का वैज्ञानिक है, जिसने इस विषय में करने के लिए कुछ शेष छोड़ा ही नहीं है।"

दौरा समाप्त कर बसु 23 अप्रैल, 1897 को कलकत्ता लौटे। हावड़ा स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए भारी भीड़ इकट्ठी हुई थी। उसमें आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय, डॉ. नीलरतन सरकार, रामानंद बनर्जी जैसे प्रसिद्ध महानुभाव भी थे।

अनुसंधानकर्ता के रूप में हुए इस पहले विदेश दौरे से लौटने पर बसु की क्या भावना थी? 'The Englishman' ने 22 मई, 1897 के अंक में प्रकाशित किए उनके साक्षात्कार में यह ठीक तरह से व्यक्त होता है—"भारतीयों की बुद्धिमत्ता कुशाग्र, तरल, सूक्ष्म एवं कल्पनाशील है, यह सभी मानते हैं, लेकिन क्या वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए वह उपयोग में लाया जाएगा? क्या बंगाल में वैज्ञानिकों का एक गुट अनुसंधान कार्य के लिए उभरेगा?" बसु से ये प्रश्न पूछने पर उन्होंने कहा, "इस हेतु बंगाल में उपलब्ध सुविधाएँ न के बराबर हैं। प्रयोगशालाएँ तो हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम है तथा उनमें उत्तम एवं अद्यतन उपकरणों की कमी है। अगर इनकी आपूर्ति हुई तो कला, वाङ्मय एवं तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जिस तरह का श्रेष्ठतम कार्य प्राचीन भारतीयों ने किया, वैसा ही कार्य वे विज्ञान के क्षेत्र में भी अवश्य कर सकेंगे। पश्चिम से हम जरा भी कम नहीं हैं।"

स्वतंत्रता-संग्राम के माहौल में राष्ट्र प्रेम से भरे ऐसे कई युवा बंगाल तथा अन्य प्रांतों में आगे आए तथा विज्ञानोपासना की खंडित परंपरा को उन्होंने पुनरुज्जीवित किया।

जगदीशचंद्र जैसा राष्ट्रप्रेमी वैज्ञानिक उन्हें ध्रुवतारे जैसा प्राप्त हुआ, यह उनका तथा इस देश का भी अहोभाग्य है।

6

विदेश दौरे से लौटने पर बसु ने अपना अनुसंधान कार्य पुनः आरंभ किया। यह अनुसंधान बसु के द्वारा ही हो, ऐसी नियति की इच्छा थी। वैश्विक एकता का नित्य उद्घोष करनेवाली भारतीय परंपरा के किसी स्वाभिमानी के माध्यम से यह एकता पुनः एक बार उद्घोषित हो, ऐसा होना था। नियति ने इस हेतु जगदीश दा का चयन किया। अजीव तथा सजीव पदार्थ जितने भिन्न लगते हैं उतने नहीं हैं, एक ही एक अविच्छिन्न, संबद्ध विश्व के थे वे। दो छोर के पदार्थ हैं, ऐसी अद्वैत की अनुभूति मनुष्य को दिलाने का भगवान् ने शायद तय किया तो फिर यह कार्य द्वैतवादी, विखंडनात्मक विचार करनेवाले किसी पश्चिमी वैज्ञानिक के द्वारा भला कैसे हो सकता है? उस हेतु आवश्यकता है पौर्वात्य परंपरा के किसी वैज्ञानिक की ही! एक ओर उसे चाहिए अद्वैत विचार का अधिष्ठान तथा दूसरी ओर चाहिए द्वैतवादी वैज्ञानिकों को उन्हीं की पद्धति से उन्हीं की परिभाषा में इस अद्वैत की गवाही देने के लिए विज्ञान की अच्छी जानकारी। लंबे समय से इस कार्य के योग्य मनुष्य की राह देख रहे भगवान् को बसु के रूप में अपना प्रतिनिधि मिला। विज्ञान की एकात्मता को अद्वैत की दिशा में ले जानेवाले पहले दिग्गज थे—जगदीशचंद्र बसु तथा दूसरे रहे अल्बर्ट आइंस्टाइन। अकेले की आध्यात्मिक अनुभूति उन्होंने वैज्ञानिक प्रयोगों की कसौटी पर लगाकर सिद्ध की।

लेकिन ऐसा हुआ क्या था, जिससे बसु अजीव पदार्थों के विज्ञान से सजीवों के विज्ञान की ओर मुड़े?

उसका कारण रहा उनका संदेश-ग्राहक। लंबे समय तक काम करने पर उसकी संवेदन-क्षमता काफी घटती तथा थोड़े विश्राम के बाद वह फिर पूरी क्षमता से काम करने लगती। संदेश-ग्राहक का यह बरताव बसु को प्राणियों के स्नायु जैसा लगा।

'अगर दीर्घकाल तक विश्राम करने दिया तो संदेश-ग्राहक की क्षमता अधिक बढ़ जाएगी', क्या ऐसी सोच बसु के मन में आई? प्रयोग हेतु उन्होंने उस ग्राहक को कुछ दिनों तक बाजू में रख दिया। उसके बाद जब उन्होंने उसका फिर उपयोग करना आरंभ किया तो क्या वह काम ही नहीं कर रहा था। फिर बसु ने उसे बिजली का एक जोरदार झटका दिया। झटका मिलते ही वह 'जागा' और काम करने लगा। 'अतिश्रम के कारण थकावट' तथा 'अति विश्राम के कारण निष्क्रियता' जीवंत स्नायु के बारे में जैसा होता है, ठीक वैसा ही अजीब संदेश-ग्राहक के बारे में भी होता है, इस निष्कर्ष पर बसु पहुँचे।

कुछ धातुओं तथा अन्य पदार्थों का बरताव भी स्नायु जैसा ही होता है, ऐसा बसु के ध्यान में

आया। लोहे के ऑक्साइड का टुकड़ा जब 'थक' जाता, तब हलके से 'मर्दन' करने से या तो गरम पानी से उसे 'नहाने' से वह फिर 'उत्साही' बनता। पोटैशियम पर कुछ विशिष्ट द्रव्यों का प्रयोग करने पर वह 'मृत'-सा हो जाता। विष के कारण स्नायु मरने जैसा ही यह प्रकार था।

एक प्रयोग में बसु ने धातु के पृष्ठ के कुछ अंश पर अम्ल लगाया। अम्ल की प्रक्रिया के कारण उतना अंश अलग दिखने लगा। फिर बसु ने पॉलिश पेपर से पूरा पृष्ठ भाग साफ किया। अब प्रक्रियित अंश अलग नहीं दिख रहा था, लेकिन उत्तेजना देने पर प्रक्रियित तथा अप्रक्रियति हिस्सों का प्रतिसाद अलग-अलग था। प्रक्रियित धातु में प्रक्रिया की एक तरह की 'स्मृति' शेष रहती है, ऐसे निष्कर्ष पर बसु आए।

एक ओर जगदीशचंद्र का ऐसा अनुसंधान कार्य प्रगति पर था। उनके निबंध प्रकाशित होते रहते थे। जो क्षितिज पाठाक्रांत करने के लिए नियति ने उन्हें चुना था, उनकी ओर वे निरंतर अग्रसर थे।

और इसी दौरान इस यात्रा में सहायक होनेवाले सुहृद भी उन्हें मिलने आरंभ हुए थे। इनमें से पहले थे रवींद्रनाथ ठाकुर। रवींद्रनाथ लगभग बसु की ही उम्र के—बस तीन वर्ष छोटे। जगदीश दा के भारत लौटने पर उनके पश्चिम विजय की वार्ताएँ पढ़-सुनकर उनका अभिनंदन करने हेतु रवींद्रनाथ एक दिन उनके घर पधारे। जगदीश बाबू घर पर नहीं होने के कारण 'मैंग्नोलिया' के फूलों का एक गुच्छा उनके पटल पर रखकर लौट गए। फूलों की खुशबू धीरे-धीरे मैत्री की सुगंध में रूपांतरित हुई तथा नित्य बढ़ती रही।

एक वैज्ञानिक तथा एक कवि, इनकी मित्रता दृढ़ होकर प्रगाढ़ स्नेह में परिवर्तित हुई, इसका कारण यह नहीं था कि वे दोनों बंगाली थे, अपितु उस स्नेह का राष्ट्र-प्रेम अधिक कारण था। प्रारंभिक मुलाकातों में ही इन दोनों को एक-दूसरे के विश्वात्मक विचारों की प्रतीति आई होगी। 'समानशीलं व्यसनेषु सख्यम्', इस न्याय से वह निकट आए। इसके अलावा और भी एक कारण है—जगदीश दा को साहित्य में न केवल रुचि थी, अपितु अच्छी जानकारी भी थी, तो रवींद्रनाथ को बसु की वैज्ञानिक खोजों में उत्सुकता। जब रवींद्रनाथ सिलाइदहाने हुआ करते तब पद्मा नदी में होनेवाले नौकागृह में उन्हें मिलने जगदीश दा हर सप्ताह के अंत में जाया करते। उस समय रवींद्रनाथ अपनी नई कथा बसु को पढ़कर दिखाते तथा बसु से नए अनुसंधान की जानकारी लेते। जगदीश दा अगले सप्ताह नई कहानी सुनाने का आश्वासन रवींद्रनाथ से लेकर ही वापस जाते। बसु के ऐसे पीछे पड़ने के कारण ही उस कालावधि में रवींद्रनाथ ने कई कहानियाँ लिखीं।

इस काल के दोनों के मैत्री के संबंध में लिखित रूप में कुछ उपलब्ध नहीं है, क्योंकि वे हर सप्ताह प्रत्यक्ष मिलते थे, लेकिन बसु के यशस्वी पश्चिम दौरे पर उनका गौरव करनेवाला रवींद्रनाथ का एक काव्य उपलब्ध है। 19 जुलाई, 1897 को लिखा यह काव्य पहले 'प्रदीप' में प्रकाशित हुआ और बाद में 'कल्पना' नामक पुस्तक में भी समाविष्ट हुआ—

विज्ञान-लक्ष्मीर प्रिय पश्चिममंदिरे

दूर सिंधु तीरे,

हे बंधु, गियेदगे तुमि; जयमाल्यखानि

शेथा होते आनि

दीन हीना जननीर लज्जानत-शिरे

परायेद्धे धीरे।

विदेशेर महोज्ज्वल, महिमा-मंडित

पंडित-सभाय

बहु साधुवाद ध्वनि नाना कंठरवे,

शुनेच्छो गौरवे!

शे ध्वनि गभीर मंद्रे छाय चारीधार

होए सिंधु पार!

आनि माता पाठाई दे—अश्रुसिक बाणी

आशीर्वाद खानि

जगत्-सभार काद अख्यात अज्ञात

कविकंठे, भ्रातः!

शेबाणी पशिबे शुधु तोमारि अंत रे

क्षीण मातृस्वरे!

विज्ञान-लक्ष्मी को प्रिय होनेवाले पश्चिम-मंदिर के, महोज्ज्वल, महिमामंडित पंडित-सभा में बसु को जो गौरव हुआ, उससे धन्यता अनुभूत करनेवाले मातृभूमि के अश्रुणिक आशीर्वाद रवींद्रनाथ ने इस भावपूर्ण कविता में से बसु तक पहुँचाए हैं।

रवींद्रनाथ जैसा एक 'चिरबंधु' बसु को मिला, वैसा ही 'चिरभगिनी' उन्हें लगभग उसी समय में मिली—भगिनी निवेदिता। स्वामी विवेकानंद की प्रेरणा से भारत आकर कार्य करनेवाली यह महिला आयरलैंड की थी—बसु से नौ वर्ष छोटी। सन् 1898 के अंत में

निवेदिता तथा उसकी गुरुभगिनी, स्वामीजी की अमेरिकी शिष्या बसु के घर आईं। इनका काम अबला दी से था, ऐसा लगता है; क्योंकि निवेदिता जनवरी 1898 में भारत आने पर लड़कियों तथा महिलाओं के लिए कार्य करने की सोच रही थीं। इस क्षेत्र में जो पहले से ही कार्यरत हैं, ऐसे लोगों से वे मिल रहीं थीं। जगदीश दा की छोटी बहन लावण्यप्रभा उस समय कलकत्ता में एक पाठशाला चला रही थीं। अबला दी अपने पिता के निधन के पश्चात् उनके 'ब्राह्मो बालिका शिक्षालय' का कार्यभार निभा रही थीं। इन ननद-भाभी के कार्य से परिचित होने हेतु निवेदिता उनके घर आईं, ऐसा संभव है; लेकिन निवेदिता ने स्नातक स्तर तक भौतिक-शास्त्र का अध्ययन किया था, इसलिए घर आने पर जगदीशचंद्र के अनुसंधान के प्रयोगों की जानकारी उन्होंने ली। अबला दी के साथ उनका वार्त्तालाप भारतीय स्त्रियों के लिए कार्य करने के संबंध में हुआ। इस पुराणमतवादी समाज में महिला-शिक्षा का कार्य कितना यशस्वी होगा, इसके बारे में अबला दी के मन में आशंकाएँ थीं। वे भी उन्होंने निवेदिता से व्यक्त कीं।

इस पहली मुलाकात से ही बसु दंपती और निवेदिता में दृढ़ सौहार्द पैदा हुआ। अगले 13-14 वर्ष वह और गहराता गया। दो भिन्न देशों के ये व्यक्ति, अपितु कालिदास की उक्ति 'भावस्थिराणि जननानार-सौहृदानि' के अनुसार मानो ये पूर्वजन्म का ही सौहार्द था, जो इस जन्म में आगे चलते रहा। बसु को अनुसंधान-कार्य के लिए प्रेरणा देनेवाली, उनके ग्रंथों का लेखन करनेवाली, उन्हें आर्थिक सहायता प्राप्त कर देनेवाली—ऐसी विभिन्न भूमिकाओं में निवेदिता का बसु के जीवन में स्थान है। वह बसु दंपती की मानो मानसकन्या ही थीं। प्रत्येक अवकाश के दिन एक तो बसु बोसपारा गली में निवेदिता के घर जाते; या तो निवेदिता अपर सर्कुलर रोड पर बसु के घर आती। इन मुलाकातों में जगदीशचंद्र का अनुसंधान; अंग्रेजी काव्य का वाचन, देश की स्थिति, महिलाओं में शिक्षा-प्रसार—ऐसे अनेक विषयों पर बातें हुआ करतीं।*

जिसे सुनने को रवींद्रनाथ उत्सुक थे, जो दुनिया के सामने आना चाहिए, ऐसी भगिनी निवेदिता को लगता था कि वह जगदीशचंद्र का क्रांतिकारी अनुसंधान अपर्याप्त सुविधाओं से समायोजन करके जारी था। वे उसका परिशीलन करनेवाले निबंध लिखकर लॉर्ड रेले के पास भेजते तथा रेले अपनी सिफारिश के साथ वह रॉयल सोसाइटी को प्रकाशनार्थ देते। सन् 1897 में एक, मार्च 1898 में दो, मार्च 1899 में एक तथा फरवरी 1900 में एक—उनके निबंध सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुए। संदेश-ग्राहकों पर विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का असर किस तरह का रहता है, इस विषय पर बसु का अनुसंधान पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में खलबली मचानेवाला रहा। वैज्ञानिकों के उस समय तक के मत कैसे गलत थे तथा संदेश-ग्राहक के अंदर क्या घटता है, इसका योग्य तथा सिद्धतापूर्ण विवरण बसु ने दिया।

यह अनुसंधान पश्चिमी वैज्ञानिकों के सामने रखने की बसु की तीव्र आकांक्षा थी तो जब उन्हें अगस्त 1900 में पेरिस में होनेवाली वैश्विक प्रदर्शनी के अंतर्गत आयोजन का निमंत्रण मिला, तब वे हर्षोल्लसित हुए। वहाँ पूरी दुनिया भर के वैज्ञानिक आने वाले थे, विचार-विमर्श करने वाले थे, एक-दूसरे के मतों का खंडन-मंडन करने वाले थे। 'काश, इस परिषद्

में उपस्थित रह सकूँ...' बसु के मन में आया, परंतु...

परंतु वे एक परतंत्र देश के नागरिक थे। उनके वरिष्ठ उनको प्रोत्साहन नहीं देने वाले थे अपितु उन्हें जकड़ने वाले थे।

बसु यह सब जानते थे, इसलिए उन्होंने युक्ति से काम लिया—प्यादों के सिर के ऊपर से छलाँग लगाकर वे ठीक वजीर के सामने जाकर खड़े हुए। सर जॉन वुडबर्न उस समय बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे। बसु के प्रयोग, उन्हें मिला यश, रॉयल सोसाइटी जैसी अव्वल संस्था द्वारा उनके निबंधों का प्रकाशन—यह सब सुनने पर गवर्नर महोदय ने अत्यंत संतोष व्यक्त किया। इस मुलाकात के बारे में बसु ने रवींद्रनाथ को लिखा—"मेरे यश के बारे में उन्होंने अत्यंत हर्ष व्यक्त किया। अगले सोमवार वह मेरी प्रयोगशाला में आकर मेरे प्रयोग देखने वाले हैं। तुम कहते हो कि मैं पेरिस जाऊँ—मा. गवर्नर को मैंने यह विषय बताया, मुझे मिले आमंत्रण के बारे में भी बताया। उन्होंने पूरी सहायता का आश्वासन तो दिया, लेकिन कहा कि यह विषय भारतमंत्री के अधिकार में आता है।"

लेकिन इसके बाद 2-3 दिन में ही बसु को शिक्षा-संचालक से एक 'कारण बताओ' नेटिस आया—"मुझे ऐसा बताया गया है कि आपने हाल ही में मा. गवर्नर से मुलाकात की। आपको पेरिस भेजने संबंधी बात की। यह विनती मा. गवर्नर से करने का कारण क्या आप मुझे बता सकते हैं?"

इसका उत्तर बसु ने लिखने के पूर्व ही सर वुडबर्न ने उनकी प्रयोगशाला को भेंट दी। बसु के प्रयोग देखकर वे चकित तथा हर्षित हुए। बसु के किसी एक सहायक को तीन वर्ष तक प्रतिमाह 4,100 की छात्रवृत्ति देने की घोषणा उन्होंने की।

यह सब देखकर प्राचार्य महोदय आश्चर्यचकित हो गए। शिक्षा-संचालक को यह ज्ञात होने पर उन्होंने तुरंत बसु को पत्र लिखा—"कृपया आप मेरे पहले पत्र के कारण मेरे बारे में गलतफहमी न होने दें। गवर्नर आपको पेरिस भेजना चाहते हैं और उस हेतु उन्होंने मुझसे एक रपट माँगी है। कृपया आप मेरे कार्यालय में आकर चर्चा करें।"

जब चर्चा के लिए गए तब शिक्षा-संचालक ने कहा, "क्या यह विषय हम थोड़ा अलग नहीं रख सकते, क्योंकि हमारी अड़चन ऐसी है कि आपके पेरिस जाने पर आपका अध्यापन का कार्य करने के लिए दूसरा कोई है नहीं। महाविद्यालय तथा छात्र—दोनों को असुविधा होगी।"

जिन प्यादों के सिर के ऊपर से बसु ने छलाँग लगाई थी, उन्होंने सही समय आते ही ऐसे घोड़े की लगाम ठीक से खींच ली। शिक्षा संचालक की इस चाल से बसु को कितना दुःख हुआ होगा! 'काश, मेरा देश स्वतंत्र होता...'*

कुछ सप्ताह बाद बसु को ऐसी जानकारी मिली कि कलकत्ता विश्वविद्यालय की एक सभा में 'विश्वविद्यालय बसु को अपने प्रतिनिधि के रूप में पेरिस भेजें', ऐसा एक प्रस्ताव आया

था; लेकिन अधिकारी उसके अनुकूल नहीं थे। मात्र गवर्नर ही बसु को भेजना चाहते थे।

सप्ताह बीते, महीने बीते। बसु को किसी से कुछ जानकारी नहीं मिली। 'अनुमति नहीं मिलने वाली है', ऐसा सोचकर वे बड़े कष्ट के साथ अपने काम में जुटे रहे।

और अचानक जून 1900 के अंत में उन्हें सीधे भारतमंत्री से तार आया—वे प्रतिनिधि के रूप में पेरिस भेजे जाने वाले थे। 29 जून को रवींद्रनाथ को पत्र लिखकर बसु ने बताया—"अभी-अभी भारतमंत्री का तार आया है। मुझे जरूर ही निकलना पड़ेगा। ...मुझे बार-बार भारत माँ का बुलावा आता है। उसका यह सेवक उसकी चरण धूलि मस्तक पर लगाकर ही प्रवास आरंभ करेगा। तुम सब मित्रों व परिजनों की शुभेच्छाएँ, शुभाशीर्वाद मुझे चाहिए, जिनके बल पर यह सेवक तन-मन से माँ की सेवा कर पाएगा। उसकी कार्य-शक्ति बढ़ेगी, हौसले बुलंद होंगे।"

समय बहुत कम था। जल्दी करना आवश्यक था। अबला दी उनके साथ जाने वाली थीं। दोनों तैयारी में लग गए।

न केवल मित्रों एवं परिजनों के, अपितु सभी भारतवासियों की शुभेच्छाओं को साथ लेकर जगदीश दा तथा अबला दी ने 'S.S. Arabia' नामक पानी के जहाज से सन् 1900 के मध्य में भारत का तट छोड़ा।

सन् 1900 के अगस्त में पेरिस में एक वैश्विक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। उसके अंतर्गत कई विषयों पर गोष्ठियों का आयोजन था। इसमें से एक थी पदार्थ-विज्ञान पर, जिसके लिए बसु आए थे। दूसरी थी धर्म एवं तत्त्वज्ञान पर जिसके लिए स्वामी विवेकानंद आए थे।

उस परिषद् में क्या हुआ, इसका वर्णन स्वामी विवेकानंद ने अत्यंत नाटकीयपूर्ण शब्दों में इस तरह से किया है—"...प्रसिद्ध जागतिक प्रदर्शनी का यह वर्ष होने के कारण पेरिस समूचे सभ्य विश्व का केंद्र बना है। प्रदर्शनी देखने हेतु दुनिया के विभिन्न हिस्सों से स्त्री-पुरुष यहाँ आए हैं। अपनी प्रतिभा के चमत्कार दिखाकर अपने राष्ट्र की ध्वजा ऊँची फहराने के लिए देश-विदेश के प्रतिभावान् व्यक्ति आज पेरिस पधारे हुए हैं। इस केंद्र से घंटानाद के साथ जिस भाग्यवान् पुरुष का नाम उद्घोषित होगा, वह उसी क्षण अपनी मातृभूमि को पूरी दुनिया के सामने गौरवान्वित कर देगा। हे मेरी जन्मभूमि! हे बंग देश! इस महान् राजधानी में, जहाँ जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, इटली तथा अन्यान्य देशों के विद्वानों के समूह दिखाई दे रहे हैं, उसमें तेरा स्थान कहाँ है? कौन तेरे नाम का यहाँ प्रचार करेगा? कौन तेरे अस्तित्व की गवाही देगा? कौन तुझे पुकारेगा?"

उस देशभक्त संन्यासी का हृदय इस शल्य से व्याकुल बना हुआ था, जब जगदीशचंद्र का नाम पुकारा गया। वह सुनते ही स्वामीजी की व्याकुलता समाप्त हो गई और उनका हृदय आनंद-अभिमान से उल्लसित हो उठा—'उन गौरवर्णी विद्वानों में से एक वीर युवा आगे आया और उसने अपनी मातृभूमि का (बंगाल का) नाम रोशन किया। वह वीर युवा था विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु! बिजली के चमकने से जैसे उजाला हो जाए, उस तरीके से उसने अपनी उच्च प्रतिभा से आज पश्चिमी श्रोताओं को प्रभावित कर डाला है। उस विद्युत् संचार से अपनी मृतवत् मातृभूमि की नसों में नवचैतन्य का संचार हुआ है। जगदीशचंद्र बसु आज सभी पदार्थ-वैज्ञानिकों के मुकुटमणि बने हैं। एक भारतीय! एक बंगाली! शाबाश, हे वीर! जिस देश में डॉ. बसु एवं उनकी सर्वगुण-संपन्न आदर्श पत्नी जाते हैं, उस देश में वे भारत का नाम उज्ज्वल करते हैं, बंगदेश का गौरव बढ़ाते हैं। धन्य है वह दंपती!

विवेकानंद ने बसु का जो गौरव गान किया वह प्रेमांध प्रतिक्रिया नहीं थी, अपितु वह एक महान् वैज्ञानिक का एक महामानव द्वारा किया सार्थक सत्कार था।

जगदीशचंद्र ने एक परिषद् में जो निबंध प्रस्तुत किया, उसका शीर्षक था—'On the General Molecular Phenomena Produced by Electricity in Living and Non-living Matter'। उसमें बसु ने विवेचन किया था कि विद्युत्-प्रेरणों के कारण लोहे के चुंबकीय ऑक्साइड (magnetic oxide of iron, Fe3O4) का प्रतिसाद कैसे बदलता है। जब उसके पृष्ठ पर विद्युत् तरंगें आयतित होती हैं, तब परिवर्तनों के कारण उनकी वहन क्षमता बढ़ती है। गॅल्वनोमीटर के अधिक विचलन से यह वर्धित वहन-क्षमता दृष्टिगोचर होती है। प्रेरण समाप्त होने पर सुई पूर्व स्थिति में आ जाती है। प्रेरण आरंभ होना और सुई का विचलन आरंभ होना—इसमें काल का थोड़ा अंतर रहता है, जिसे 'सुप्तकाल' कहते हैं। प्रेरण रुकने का क्षण और सुई के प्रत्यावर्तन का क्षण इनमें भी एक सुप्तकाल रहता है। सुई पीछे आते समय आरंभ में उसकी गति अधिक होती है, जो बाद में धीरे-धीरे कम होती है। इस सबका अगर आलेख (graph) खींचा जाए तो वह किसी स्नायु द्वारा उत्तेजना को दिए प्रतिसाद के आलेख से मेल रखता है।

बसु ने कुछ अन्य तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। जीवंत पेशी पर अगर बड़ी मात्रा में किसी औषधि का प्रयोग किया गया तो जिस तरह का प्रतिसाद वह देता है, उससे बिलकुल उलटा प्रतिसाद अत्यल्प मात्रा में उन्हें वही औषधि देने पर मिलता है। ठीक ऐसा ही धातु के संदेश-ग्राहकों के संबंध में होता है—मध्यम या सामान्य तीव्रता के प्रेरणों से जिस तरह का प्रतिसाद प्राप्त होता है, उससे उलटा प्रतिसाद अल्प तीव्रता के प्रेरणों से मिलता है।

अपने निबंध में बसु ने संदेश-ग्राहक की धातुओं पर विभिन्न रसायनों के परिणामों का भी ऊहापोह किया। कुछ रसायन ग्राहक की संवेदन-क्षमता बढ़ाते हैं तो कुछ का परिणामों को विष जैसा होकर संवेदन क्षमता घटती है।

अपने प्रयोगों के ये सारे निष्कर्ष वैज्ञानिकों के सामने प्रस्तुत करने पर बसु ने कहा, "भौतिक तथा जैविक घटनाएँ एक ही प्रकार की हैं, ऐसी मेरी श्रद्धा है। ऊपर उल्लेखित सभी घटनाओं में एक संलग्नता है—कहीं विखंडितता नहीं। हम ऐसी लकीर नहीं खींच सकते, जिसके एक ओर भौतिक घटनाएँ हैं तथा दूसरी ओर जैविक। हम ऐसा भी नहीं कह सकते कि यह बात मृत द्रव्य से संबद्ध है और यह जीवित वस्तु से। ऐसी विभाजक रेखाएँ अस्तित्व में हैं ही नहीं।"

देश-विदेश के दिग्गजों के सामने बसु ने निर्भयतापूर्वक उद्घोष किया। यह अद्वैत का उद्घोष ही स्वामी विवेकानंद को भाया होगा, इसमें संदेह नहीं। पेरिस में बसु एवं स्वामीजी कई बार मिले थे। बसु के अनुसंधान कार्य से स्वामीजी भलीभाँति परिचित हुए थे। इसके अलावा भगिनी निवेदिता से भी स्वामीजी को बसु के कार्य के बारे में जानकारी मिलती रहती थी। निवेदिता इस परिषद् में उप-सचिव के रूप में कार्य कर रही थीं। प्रस्तुत होनेवाले वैज्ञानिक निबंधों का सारांश तैयार करने का कार्य उन पर सौंपा गया था।

बसु के भाषण जैसा उनका अनुसंधान कार्य भी स्वामीजी को भाया था। अपने पश्चिमी मित्र-परिवार में वे बसु का उल्लेख 'बंगाल का अभिमान एवं गौरव' इन शब्दों में करते।

ऐसे ही एक उपवेशन में एक ब्रिटिश वैज्ञानिक ने उसके अध्यापक लिली के पुष्पों पर कैसा अनुसंधान कर रहे हैं, इसके बारे में बताया। इस पर स्वामीजी ने विनोद से कहा, "यह तो कुछ भी नहीं! यह जगदीश तो, जिसमें वे फूल रखे गए हैं, उस फूलदान को ही प्रतिसाद देने पर मजबूर करेगा!"

जगदीशचंद्र के इस व्याख्यान से परिषद् के अंग्रेजी जाननेवाले एक सचिव अत्यधिक प्रभावित हुए।* उन्होंने बसु के पास आकर उनके अनुसंधान के बारे में विस्तार से पूछताछ की। लगभग एक घंटे तक बसु को सुनने के बाद वे बोले, "महोदय, यह तो बहुत ही सुंदर है!" अगले तीन दिन भी वे समय मिलते ही बसु के पास आते। हर दिन अधिकाधिक आश्चर्यमुग्ध होते। तीसरे दिन उनसे रहा न गया। वे उठकर सीधे परिषद् के अध्यक्ष के पास गए और उन्हें फ्रेंच में बसु के अनुसंधान के बारे में प्रशंसा के साथ बताने लगे।

इस सचिव महोदय के साथ बोलते समय बसु ने भौतिक-शास्त्र, शरीर-शास्त्र एवं स्मृति का मानस-शास्त्र इनका एकीकरण करनेवाला एक सिद्धांत प्रस्तुत करने की मंशा व्यक्त की। उस समय बसु को धीरज रखने की सलाह देकर सचिव बोले, "आप जो विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, वे पूर्णतः नए हैं। वे दुनिया भर में जाने में ही दो वर्ष लगेंगे तो आप जल्दबाजी न करें। इतने सारे आश्चर्य लोग एकसाथ स्वीकार नहीं कर पाएँगे। शरीर वैज्ञानिक पदार्थ-विज्ञान की संकल्पनाएँ नहीं समझ सकते तथा न पदार्थ वैज्ञानिक शरीर-शास्त्र की। इसमें और मानस-शास्त्र लाया गया तो मामला और भी कठिन होगा। फिर स्मृति, मानस-विज्ञान के विषय भौतिक-शास्त्र के बाहर हैं। अगर आप सबको इकट्ठा लाएँगे तो लोग आपको शंकालु समझने लगेंगे। आपका भौतिक-विज्ञान की मर्यादाओं में बोलना ही कार्य-साधक होगा।"

पेरिस में ही बसु के और भी जगह व्याख्यान हुए—सॉरबाँ विश्वविद्यालय, फ्रेंच फिजिकल सोसाइटी तथ फ्रेंच जुलॉजिकल सोसाइटी। जर्मनी, रूस, अमेरिका आदि देशों के वैज्ञानिकों से भी बसु मिले। उनके साथ उनकी उपयुक्त चर्चाएँ हुईं।

'परिषद् में किए व्याख्यान से हम पेरिस में काफी प्रसिद्ध हो गए हैं' ऐसा अनुभव बसु को हुआ। वे अबला दी के साथ प्रसिद्ध आइफेल टावर देखने गए। बसु के पास प्रतिनिधि का 'पास' था, इसलिए उन्हें बिना शुल्क प्रवेश था; लेकिन 'अबला दी के लिए 5 फ्रेंक का टिकट निकालना पड़ेगा', ऐसा टिकट-विक्रेता कहने लगा। बसु अपनी टूटी-फूटी फ्रेंच में उसको बता रहे थे कि 'साथ में होनेवाला व्यक्ति उनकी पत्नी ही है'; लेकिन वह समझ नहीं रहा था। उनका संभाषण सुनकर अंग्रेजी जाननेवाला एक स्थानिक व्यक्ति मदद करने हेतु आगे आया। बसु ने अपना कार्ड उसके हाथ में दिया। नाम पढ़ते ही वह एकदम बोला, "आप ही जगदीशचंद्र बसु हो!" और फिर उसने आस-पास के लोगों को इस महान् वैज्ञानिक को 5 फ्रेंक के लिए कैसे अटकाया जा रहा है, यह बताया। फिर भीड़ ने टिकट विक्रेता को ऐसा फटकारा कि पूछो मत।

पेरिस से बसु इंग्लैंड आए। सितंबर 1900 में 'ब्रिटिश एसोसिएशन' के बॅडफोर्ड में हुए अधिवेशन में भाषण हुआ। विषय था—'On the similarity of Effect of Electric Stimulus on Inorganic and Living Substances'। इस भाषण के लिए बसु के प्रतिपादन का विरोध करने हेतु प्रो. ऑलिवर लॉज स्वयं उपस्थित थे। इस विरोध का कारण यह था कि फरवरी 1900 में रॉयल सोसाइटी ने बसु का एक निबंध प्रकाशित किया था (On Electric Touch and the Molecular Changes Produced in Matter by Electric touch Waves), जिसमें उन्होंने लॉज का संदेश-ग्राहकों की संवेदन-क्षमता के बारे में किया कुछ प्रतिपादन अपूर्ण होने का दावा किया था। विद्युत-प्रेरणों द्वारा होनेवाले रेजवीय परिवर्तनों के आधार पर ही इसका संपूर्ण स्पष्टीकरण दिया जा सकता है, ऐसा बसु का मत था।

रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में बसु ने अपने भाषण के संबंध में उत्कंठापूर्ण शब्दों में लिखा है—"मुझे केवल 15 मिनट का समय दिया गया था, इसलिए मैं संक्षेप में केवल तथ्य ही समझ पाएँगे, ऐसी भाषा में बोला। भाषण के बाद तालियों की गड़गड़ाहट हुई, फिर अध्यक्ष उठे और 'किसी को कुछ पूछना है क्या?' ऐसा उन्होंने पूछा। कोई उठा नहीं। ...फिर लॉज उठे और मंच पर आकर उन्होंने मुझे बधाई दी। एक-दो मुद्दों के बारे में उन्होंने मुझसे चर्चा की। फिर वे अध्यक्ष के कान में कुछ बोले। फिर अध्यक्ष ने मुझसे प्रार्थना की कि मैं अपने कार्य के बारे में और कुछ जानकारी दूँ। व्याख्यान के पश्चात् लॉज फिर अपने मित्रों के साथ मेरे पास आए। मेरा स्टीरियोस्कोप उन्होंने देखा। फिर बोले, 'आपके हाथ में बहुत ही अच्छा विषय है। अनुसंधान जारी रखिएगा।'

और जगदीशचंद्र की ऐसी स्तुति करने के बाद लॉज अबला दी की ओर मुड़कर बोले, "आपके पति के उत्कृष्ट कार्य के लिए मैं आपको भी बधाई देता हूँ।"

एक ओर बसु को बधाई देते हुए भी लॉज एवं रेले ने बसु को थोड़े धीरे से आगे जाने की सलाह दी। पेरिस परिषद् के सचिव जैसा उनका भी मत था कि 'अंतःस्फूर्ति पर आधारित अद्वैत का उद्घोष वैज्ञानिकों के समक्ष जल्दी से नहीं किया जाए।' पृष्ठ पर दिखाई देनेवाली भिन्नता के पार होनेवाली एकता जानना, उसको तुरंत स्वीकार करना, यह पौर्वात्य मन का स्वभाव है। पाश्चात्यों को, विशेषकर वैज्ञानिकों को, ये बातें मान्य नहीं हैं, यह लॉर्ड रेले तथा प्रो. लॉज जानते थे। अपने पत्र में लॉज ने बसु को लिखा है—"अपने महत्त्वपूर्ण एवं सूचक प्रयोगों के लिए हार्दिक अभिनंदन! किंतु थोड़ा धीरे से आगे चलिए। प्रत्येक मुद्दा ठीक से प्रस्थापित व साबित कीजिए। अंतःस्फूर्ति को थोड़ा रोकिए।" तो लॉर्ड रेले ने कहा, "आप जल्दी कर रहे हैं, थोड़ा आहिस्ता!" बसु को यह पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विचार-शैली का अंतर लगा। पौर्वात्य मानस विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक प्रक्रिया को बगल देकर संश्लेषणात्मक पद्धति से तात्त्विक सिद्धांत प्रस्तुत करता है। स्वाभाविक ही, वैज्ञानिकों को यह पद्धति मान्य नहीं होती। उनके लिए प्रयोग, सुबूतों पर आधारित प्रतिपादन ही आवश्यक होता है; लेकिन अगर मुझे उनके सामने ही अपना अनुसंधान पेश करना है तो मुझे मान्य राह से ही चलना होगा।' बसु ने सोचा।

ऐसा अनुसंधान करना है तो उसी कार्य पर एकाग्रता होनी चाहिए, सुविधाएँ होनी चाहिए। प्रेसीडेंसी कॉलेज में इन दोनों का अभाव था। फिर अनुसंधान कैसा होगा? यह जैसा बसु को लगा वैसा ही इंग्लैंड के कुछ विद्वानों को। बसु भारत न लौटें, इंग्लैंड में ही रहकर अनुसंधान कार्य करें, ऐसा उनका मत था। एक रात प्रो. लॉज, प्रो. बैरट ऐसे कुछ व्यक्ति साथ में बैठे और बसु के सामने एक प्रस्ताव रखने का उन्होंने निर्णय किया। अगले दिन प्रो. बैरट ने बसु से कहा, "हमें लगता है कि आपका अमूल्य समय भारत में मात्र नष्ट हो रहा है। आपकी राह में काफी रुकावटें भी हैं तो आप इंग्लैंड क्यों नहीं आते? आपके सौभाग्य से एक दुर्लभ सुअवसर सामने आया है। अच्छे स्थान कभी-कभी ही खाली होते हैं तथा उनके लिए सुपात्र व्यक्ति कभी-कभी ही मिलते हैं। एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में (केंद्रित) प्राध्यापक का एक स्थान खाली हुआ है। अगर आपकी 'हाँ' है तो यह स्थान अन्य किसी को नहीं मिलेगा।"

यह एक स्वर्णिम अवसर ही था या सोने का पिंजरा? बसु तय नहीं कर पा रहे थे। अपनी दुविधा उन्होंने रवींद्रनाथ को लिखकर व्यक्त की—"...तुम ही बताओ कि मैं क्या करूँ? एक समय ऐसा लगता है कि जो कार्य मैंने हाथ में लिया है, वह एक बड़े कार्य का मात्र एक अंश है। इस बड़े कार्य के निष्कर्ष अत्यंत विस्मयकारक होने वाले हैं। यह कार्य पूरा करना है तो उसी का अभ्यास लेकर अथक एवं सतत परिश्रम आवश्यक है। आस-पास का वातावरण अनुकूल होना चाहिए। (यहाँ रहते यह सब होगा?) किंतु दूसरी ओर मेरे मन में मेरी पराधीन मातृभूमि का विचार आता है। उसके तथा मेरे देशवासियों के लिए मैं कुछ करूँ, इस प्रेरणा से तो मैं यह कार्य कर रहा हूँ तो अगर मातृभूमि से ही मैं अलग हो गया तो क्या रहा?"

अंततः बसु ने प्राध्यापक का वह पद नकारा, लेकिन इस दरम्यान दो घटनाएँ ऐसी घटीं, जिस कारण बसु अधिक समय तक इंग्लैंड में ही रह पाए। पहली घटना थी रॉयल इंस्टीट्यूटशन द्वारा सन् 1901 के वसंतकाल में 'शुक्रवार शाम के व्याख्यान' के लिए बसु को आमंत्रित किया जाना। 1 नवंबर, 1900 को बसु को प्राप्त हुए पत्र में संस्था के अध्यक्ष सर विलियम क्रुक्स ने कहा था, "आपके उत्सुकतापूर्ण अनुसंधान का ब्योरा मैंने रुचि से पढ़ा। अपना यह तथा अन्य अनुसंधान भी आप रॉयल इंस्टीट्यूशन के सामने रखें ऐसी मेरी इच्छा है। अगर आपको यह प्रस्ताव पसंद है तो सन् 1901 के ईस्टर के बाद का शुक्रवार आपके लिए आरक्षित करने में मुझे हर्ष होगा। कुछ वर्ष पूर्व आपके द्वारा दिए गए ऐसे ही व्याख्यान की प्रसन्नतापूर्ण स्मृति हमारे मन में निरंतर जागती रही है।"

यह एक बड़ा सम्मान था। लेकिन अगर उसको स्वीकार करना है तो समस्या थी अवकाश की। बसु के प्रतिनिधित्व की अवधि ईस्टर के पहले ही समाप्त हो रही थी। इसलिए उन्होंने अर्जित अवकाश में से एक वर्ष की छुट्टी के लिए आवेदन भेजा। सम्मति मिली केवल छह महीने की छुट्टी की।

इन छह महीनों में बसु का अनुसंधान कार्य खंडित न हो, इसलिए रॉयल इंस्टीट्यूशन के 'डेवी-फॅराडे प्रयोगशाला' के द्वार बसु के लिए खोल दिए गए। इसके पीछे प्रयास थे—बसु

के गुरु तथा हितैषी लॉर्ड रेले एवं सर जेम्स डेवर के। बसु के अधिक समय इंग्लैंड में रहने के कारण-स्वरूप होनेवाली यह दूसरी घटना।

वैज्ञानिक अनुसंधान हेतु इंग्लैंड में रह रहे बसु का खाली समय में एक साहित्यिक उपक्रम चलता था—रवींद्रनाथ की कथाओं का अंग्रेजी में अनुवाद करके उसे मित्रों के सामने पढ़ने का! उन दोनों की नैया की यह एक समान छाया थी—साहित्य-प्रेम। 20 मई, 1899 को रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में बसु कहते हैं—"पौराणिक विषयों पर लिखी तुम्हारी कविताएँ अप्रतिम हैं। ...तुम महाभारत पर भी लिखो ना! मैंने तुम्हें कर्ण पर कुछ लिखने के लिए पहले ही कहा है। भीष्म का देवतुल्य व्यक्तित्व देखकर हम प्रभावित हो जाते हैं, लेकिन कर्ण का गुण-दोषों से युक्त एवं विफलतापूर्ण चरित्र हमारे मन में सहानुभूति जगाता है। वह सचमुच देव बनने लायक था। उसकी विजय से भी उसकी पराजय महान् एवं उदात्त है।"

जगदीश दा की इस सूचना के अगले ही वर्ष उनका 'कर्ण-कुंती संवाद' प्रसिद्ध हुआ। सन् 1900 में प्रकाशित हुआ 'कथा' नामक अपना काव्य-संग्रह रवींद्रनाथ ने जगदीश दा को ही अर्पित किया है।

इंग्लैंड में जगदीश दा रवींद्रनाथ की कथा-कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद कर तो रहे थे, किंतु काव्य का अच्छा अनुवाद करने में अपयश रहने का उन्होंने खुले मन से स्वीकार किया। 2 नवंबर, 1900 के पत्र में वे लिखते हैं—"किसी दूसरी भाषा में अनूदित हो न पाए ऐसी भाषा में तुम कविताएँ क्यों लिखते हो? ...लेकिन मैं तुम्हारी कथाओं का इस देश में प्रसार करके ही रहूँगा। मैं तुम्हें एक कोने के गाँव में छिपे नहीं रहने दूँगा। तुम वैश्विक हो!"

इसके तुरंत बाद, 23 नवंबर को लिखे पत्र में बसु दा कहते हैं—"मैं तुम्हें यश-कीर्ति से मंडित देखना चाहता हूँ। तुम्हारी कुछ कथाओं का मैंने अनुवाद करके यहाँ के कुछ मित्रों के समक्ष उनका वाचन किया। वे आँसू नहीं रोक पाए। ये कथाएँ प्रकाशित करने की मेरी इच्छा है। पहले खंड की छह कथाओं का अनुवाद मैं प्रकाशित करना चाहता हूँ। तुम्हारी भाषा का सौंदर्य अंग्रेजी में लाना मेरे लिए अशक्य है; किंतु कथा के आशय की सुंदरता तो लुप्त नहीं हो सकती।"

विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में चल रहे कार्यों में सारा समय आनंद से बीत रहा था कि एक गंभीर व्याधि उभर आई—आंत्रपुच्छ की बीमारी। व्याधि की तीव्रता बढ़ने पर दिसंबर के मध्य में आंत्रपुच्छ निकालने की शल्य क्रिया करनी पड़ी। अच्छा हुआ कि भगिनी निवेदिता उस समय विंबल्डन विभाग में होनेवाले उनके माँ के घर ही थीं। शल्य क्रिया के पश्चात् विश्राम के लिए जगदीश दा अबला दी के साथ उसी घर आए। गुरुभगिनी सारा बुल भी वहीं थीं। उन दोनों ने जगदीश दा की स्नेहपूर्वक शुश्रूषा की। पूरे स्वस्थ होकर डेवी-फॅराडे प्रयोगशाला में फिर कार्यरत होने में उन्हें डेढ़-दो महीने लगे।

अनुसंधान कार्य फिर से आरंभ तो हुआ, किंतु छह महीने के बाद का यह विचार बसु को

अस्वस्थ करता रहा। वैसे ही बसु पेरिस-परिषद् के बाद मन में अस्वस्थ ही थे। 'इंग्लैंड में ही रहूँ', 'भारत लौटूँ', 'नौकरी जारी रखूँ तो अवकाश का क्या', 'नौकरी छोड़ दूँ तो पैसे कहाँ से मिलेंगे'—उन्हें कुछ समझ नहीं आ रहा था। एक विचित्र उलझन में वे पड़े थे।

जिसके साथ दिल खोलकर बातें की जा सकें, ऐसा एक ही व्यक्ति था—रवींद्रनाथ ठाकुर। इन 3-4 महीनों में उनको लिखे अनेक पत्रों में बसु ने अपनी यह उलझन कई बार व्यक्त की है। लेकिन रवींद्रनाथ के मन में कतई संदेह नहीं था—जगदीशचंद्र इंग्लैंड में ही रहकर अनुसंधान कार्य करें, ऐसा उनका निश्चित मत था। उस परिस्थिति में बसु को जो आर्थिक सहायता आवश्यक होगी, उसकी आपूर्ति के लिए वे प्रयत्नशील थे। त्रिपुरा के राजा से उन्होंने बात की थी और राजा ने उन्हें आश्वासन भी दिया था। अक्तूबर 1900 के एक पत्र में यह घटनाक्रम बताकर रवींद्रनाथ ने आगे लिखा है—"अगर तुम्हारी प्रगति में मातृभूमि ही बाधा बन रही है तो उसे भी दूर करो, फिर तुम्हारी कितनी भी अवहेलना क्यों न हो।"

इसका मतलब यह नहीं कि रवींद्रनाथ मातृभूमि को एक कश्चित् वस्तु मानते थे। उनका कहना यह था कि कुछ समय के लिए मातृभूमि से विलग होना पड़े तो वह होने देना चाहिए। क्योंकि उस समय में किए काम से आगे मातृभूमि ही अधिक लाभान्वित होनेवाली है। संघः जो अवहेलना करेंगे, उनका मुँह तब बंद हो जाएगा।

अगले महीने 20 नवंबर को लिखे पत्र में रवींद्रनाथ कहते हैं—"मैं हाल ही में महाराजा से मिलकर आया। ...हम ऐसा सोचेंगे कि समझो, तुम्हें वहीं रहकर अनुसंधान कार्य करना है तो हम कुछ लोग मिलकर तुम्हें आर्थिक विवेचना से मुक्त नहीं रख सकते हैं क्या? अगर हम इतना भी नहीं कर पाए तो हम मित्र कहने के भी लायक नहीं हैं।"

बसु को आर्थिक विवेचना से मुक्त करने का रवींद्रनाथ ने मानो ध्यास ही लिया था। 12 दिसंबर के पत्र में वह पुनः लिखते हैं—"अगर सरकार तुम्हें अधिक अवकाश लेने की अनुमति न दे तो बिना वेतन अवकाश लेने का हक तुम्हें है या नहीं? अगर है तो उतनी रकम की आपूर्ति करने का प्रयास हम करेंगे। कुछ भी हो, तुम काम अधूरा छोड़कर वापस मत आना, पूरी लगन से कार्यरत रहना। आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े, इसका दायित्व मैं लेता हूँ।"

रवींद्रनाथ द्वारा यह मुद्दा अहम महत्त्व का बनने के लिए कारण हुआ जगदीशचंद्र का 2 नवंबर का पत्र—"बीच में एक दिन मैं प्रसिद्ध शरीर रचना-शास्त्री डॉ. वॉलर से मिला। उनकी एक ख्यातनाम संस्था में मुझे भाषण के लिए निमंत्रण था। आरंभ में डॉ. वॉलर मेरे विरोध में ही थे। बाद में मेरा प्रतिपादन थोड़ा समझने पर उत्तेजित होकर वे बोले, "आपके अनुसंधान से मेरा अनुसंधान पूरा पलट जाने की संभाव्यता गहरी लगती है; लेकिन सत्य, सत्य ही होता है। अगर मैं गलत साबित हुआ तो मुझे जरा भी दुःख नहीं होगा। आइए, मैं अपनी प्रयोगशाला आपके हवाले कर देता हूँ। आप मुझे सिखाइए, या तो हम साथ में काम करें।" कितना काम करना है, ये तो मैं बता भी नहीं सकता। ...उपकरण सिद्ध करने में ही काफी समय लगेगा। अभी-अभी मुझे काम करने का अवसर प्राप्त हो रहा है। अगर मैं दो

वर्ष तक यहीं रहूँ तो मेरा काम पूर्ण हो सकता है। भारत में मुझे शरीर रचना-शास्त्र की यहाँ जैसी प्रयोगशाला नहीं मिलेगी। मैं क्या निर्णय करूँ, यही मेरी समझ में नहीं आता। अगर मैं काम अधूरा छोड़कर भारत लौटूँ तो कुछ वर्षों बाद फिर से नया प्रारंभ करना पड़ेगा। उसमें काफी समय व्यर्थ होगा। दूसरी एक बात ऐसी है कि यह विषय, यह अनुसंधानवैज्ञानिकों को आज ही महत्त्व का लग रहा है, इसलिए उस कार्य का समय यही है। कभी लगता है कि भारत लौटकर दो वर्ष का अवकाश एवं पैसों की व्यवस्था करके तुरंत यहाँ वापस आऊँ। अगर मैं किसी पर उत्तरदायी नहीं रहूँगा तो बहुत कुछ काम कर पाऊँगा।"

जगदीश दा की इस अस्वस्थता से रवींद्रनाथ भी अस्वस्थ थे और इसीलिए आर्थिक मदद की खोज में थे। वैसे देखा जाए तो आर्थिक प्राप्ति के लिए बसु के पास एक उपाय था—न केवल तंगी मिटाने का, अपितु लक्षाधीश होने का। बेतार संदेशवाहन के क्षेत्र में म्युइरोहेड नाम की एक हस्ती थी। उनका कहना था कि बसु अपना अनुसंधान गुप्त रखें, उसके स्वामित्वाधिकार (Copyright) लें और म्युइरोहेड के उद्योग में भागीदार बनकर अच्छा धन कमाएँ।

यह प्रस्ताव न केवल फायदे का अपितु ललचानेवाला भी था। लेकिन उच्च मूल्यों के सामने बसु को उसका कोई महत्त्व नहीं था। अपने अनुसंधान का व्यापार हेतु उपयोग न करने पर वे दृढ़ थे। कोई भी ज्ञान समूचे मानव समूह की भलाई के लिए है, किसी एक के या गुट के आर्थिक लाभ के लिए नहीं—ऐसा उनका मानना था। इसलिए उन्होंने यह प्रस्ताव सीधे ठुकरा दिया। आर्थिक तंगी में होते हुए भी वणिक वृत्ति का अवलंब न करनेवाला, ज्ञानोपासना एवं ज्ञान कार्य एकनिष्ठता से करनेवाला वह सच्चा ब्रह्मकर्मी था। अपनी भूमिका स्पष्ट करते वे 3 जनवरी, 1901 के पत्र में रवींद्रनाथ को लिखते हैं—"मैंने इसके पहले तुम्हें मैंने म्युइरोहेड एंड कंपनी के बारे में लिखा था। मेरे प्रयोग एवं सुझाव इनके आधार पर बेतार संदेशवाहन के क्षेत्र में वे काफी प्रगति कर चुके हैं। उन्होंने मुझसे कहा, 'हम अँधेरे में टटोल रहे थे, अपयश की ठोकर खा रहे थे। लेकिन आपके अनुसंधान के आधार पर अब हम सही मार्ग पर प्रगति कर रहे हैं।' मैंने एक निबंध लिखा है, जो बेतार संदेश-वाहन की प्रगति के लिए अत्यंत उपयोगी है। 'यह अनुसंधान मैं गुप्त रखूँ' ऐसा डॉ. म्युइरिहेड मुझे बारबार कहते हैं। लेकिन, अगर मैं पैसे के पीछे पड़ा तो मुझसे (अनुसंधान) कार्य होगा नहीं। समय अत्यंत कम है तो काम अत्यंत प्रचंड। अनुसंधान के लिए कितना अद्‌भुत क्षेत्र मुझे मिला है एवं कितनी विस्मयजनक उपलब्धियों की झाँकी दिखाई दे रही है, क्या बताऊँ? ...उस सत्य की खोज में ही मुझे सर्वस्व अर्पित करना होगा।"

कंचन के मोह को टालने से ही बसु को यह सत्य-दर्शन हो पाया।

बसु का अनुसंधान कार्य डेवी-फॅराडे प्रयोगशाला में ठीक तरह से चल रहा था, जब मई माह समाप्त हुआ। 10 मई शुक्रवार को रॉयल इंस्टीट्यूशन में उनका व्याख्यान आयोजित था।

बसु कई महीनों से इस व्याख्यान की तैयारी में लगे हुए थे। अगर सजीव तथा अजीवों का एकरूपत्व मैं सिद्ध करने जाऊँ तो समकालीन शरीर-शास्त्रज्ञों से उसका विरोध होने वाला है, इसका अंदाजा बसु को था। इसको सिद्ध करने के लिए बसु conductivity variation की पद्धति उपयोग में लाते थे। लेकिन वह प्रचार में न होने के कारण सभी को मान्य नहीं होने वाली थी। इसलिए तत्कालीन वैज्ञानिकों को मान्य होनेवाली electromotive variation की पद्धति का ही उपयोग करने का निर्णय बसु ने किया। इस पद्धति से विभिन्न धातुओं के प्रतिसादों के आलेख उन्होंने नए सिरे से निकाले। विविध द्रव्यों के कारण मिलनेवाली उत्तेजना, विचेतक द्रव्यों के परिणाम जैसे प्रयोग करके उनके परिणाम दर्ज किए।

ऐसे प्रयोग जारी रहते एक दिन उनके मन में विचार आया कि अस्तित्व-रेखा का एक छोर है सजीव तो दूसरी छोर अजीव। तो फिर इन दोनों के बीच होने वाली वनस्पतियों का प्रतिसाद कैसा होगा?

इस सीधे से प्रश्न ने बसु के कार्य एवं जीवन की दिशा ही पूरी बदल डाली।

मन में प्रश्न उभरते ही बसु प्रयोगशाला के बाहर गए और बगीचे में जाकर 'Horse Chestnut' के दो फल तोड़कर लाए। उन्होंने जो प्रतिसाद दिया वह बिलकुल स्नायु एवं धातु के प्रतिसाद जैसा ही था। फिर बाजार में जाकर गाजर, टर्निप जैसी 'बुद्धू' सब्जियाँ लाये। उनका प्रतिसाद भी उसी तरह से एवं 'तेज' रहा। विभिन्न रसायनों से ये सब्जियाँ उत्तेजित या अचेत हो गईं। भारी मात्रा में विष देने पर वे मर गईं; लेकिन सूक्ष्म मात्रा में वही विष देने पर वे उत्तेजित हुईं।

अगर ऐसा विष-प्रयोग धातुओं पर किया गया तो? बसु जैसे पूर्वग्रह-रहित खुले मन के वैज्ञानिक के दिमाग में ही ऐसा प्रश्न आ सकता है। तुरंत उन्होंने राँगा (tin), जस्ता (zinc), प्लैटिनम आदि धातुओं पर विष के प्रयोग किए। उन सबका प्रतिसाद स्नायु तथा वनस्पतियों के प्रतिसाद जैसा ही था।

एक दिन रॉयल सोसाइटी के सचिव, ख्यातनामा शरीर-शास्त्रज्ञ सर माइकेल फॉस्टर बसु के प्रयोग देखने हेतु आए। बसु ने उनके सामने एक कागज पकड़ा और पूछा, "बताइए, ये आलेख किसका है?"

फॉस्टर ने कहा, "उसमें पूछने की बात ही क्या है? हम पचास वर्षों से यह आलेख देखते आ रहे हैं।"

"लेकिन बताइए तो, सर?" बसु ने हँसते-हँसते फिर पूछा।

"उसमें क्या? ये तो स्नायु द्वारा दिए गए प्रतिसाद का आलेख है!"

बसु की आँखें चश्मे के पीछे से चमकीं, "क्षमा कीजिए, लेकिन ये राँगे का दिया प्रतिसाद है!"

"क्या बता रहे हो?" फॉस्टर अचरज से बोले, "आप राँगा धातु के बारे में ही बोल रहे हैं ना?"

"जी हाँ, धातु ही!" और बसु ने उन्हें अपने सभी प्रयोगों का ब्योरा दिया। निष्कर्ष देखकर फॉस्टर अत्यंत अचंभित हुए और बोले, "आप यह सब ब्योरा रॉयल सोसाइटी के सामने प्रस्तुत कीजिए"

लेकिन इसमें एक समस्या थी। बसु यह सब अनुसंधान जल्द ही रॉयल इंस्टीट्यूशन के सामने रखने वाले थे और रॉयल सोसाइटी अन्यत्र पहले प्रस्तुत हो चुका विषय अपने यहाँ प्रस्तुत नहीं करती।

" कुछ समस्या नहीं।" फॉस्टर ने कहा, "आप एक प्राथमिक टिप्पणी तैयार करके सोसाइटी को तुरंत भेज दीजिए। उसके अंत में लिखिए—मैं यह विषय सोसाइटी के सामने रखना चाहता हूँ। इससे यह साबित होगा कि आपने पहले सोसाइटी को सूचित किया। इंस्टीट्यूशन का व्याख्यान बाद में हुआ तो हम सुविधा होने पर आपका व्याख्यान सोसाइटी में आयोजित करेंगे।" फॉस्टर को यह कार्य इतना भाया कि नियमों में से टेढ़ी राह निकालकर सोसाइटी में बसु का व्याख्यान हो, यह उन्होंने निश्चित कर दिया।

3 मई। रॉयल इंस्टीट्यूशन के व्याख्यान के पहले का शुक्रवार! उस दिन जगदीशचंद्र ने रवींद्रनाथ को एक पत्र लिखा। उसमें वे कहते हैं—"व्याख्यान के लिए मात्र एक सप्ताह बाकी है। मैं भारत का ध्वज पाश्चात्य दुनिया में फहरा सकता हूँ या नहीं, इसकी परीक्षा होने वाली है। पदार्थ वैज्ञानिक एवं शरीर वैज्ञानिक अपने शास्त्र एक-दूसरे से संपूर्ण अलग मानते हैं। मात्र एक व्याख्यान में मैं यह असिद्ध नहीं कर पाऊँगा। यहाँ के वैज्ञानिक एवं ईसाई लोग 'जीवन' को श्रेष्ठतम, अतिउच्च बात मानते हैं। अतः सजीवों का स्तर अजीवों से कई गुना ऊपर है, ऐसी उनकी मान्यता है।

"...अजीव पदार्थों द्वारा दिया परिणाम जब मैं दिखाता हूँ, तब उसमें से कई बातें शरीर-वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आतीं, इसलिए मैंने एक नया उपकरण तैयार किया है। किसी धातु को अगर चिमटा निकाला जाए तो होनेवाली 'वेदना' वह दिखाता है। धातु को होनेवाली वेदना एवं चिमटे के कारण हमें होनेवाली वेदना में जरा भी अंतर नहीं है। नाड़ी पर हाथ रखकर जैसे दिल की धड़कन समझी जाती है, वैसे ही इस उपकरण से अजीव पदार्थों की 'धड़कन' समझी जाती है।"

10 मई के व्याख्यान के लिए जगदीशचंद्र की तैयारी तो चल रही थी, लेकिन व्याख्यान का मसौदा तैयार नहीं हो रहा था। मात्र एक घंटे में इतना व्यापक विषय कैसे प्रस्तुत किया जाए, यही अड़चन बसु के सामने थी। पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र एवं शरीर-शास्त्र इन तीनों शाखाओं को स्पर्श करनेवाला यह विषय था, वह सभी को मान्य होना चाहिए था। उसकी प्रस्तुति नए तरीके से बनाए उपकरणों के द्वारा करना था। इसका भारी तनाव बसु के मन पर आया। व्याख्यान के पश्चात् 17 मई को रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में बसु ने लिखा

है—"बृहस्पतिवार को मेरी पूरी ताकत ही मानो लुप्त हो गई। मैं जाकर बिस्तर पर लेट गया। तनाव के कारण गरदन में दर्द-सा होने लगा। इस अवस्था में मैं दूसरे दिन व्याख्यान कैसे दे पाऊँ, इस विचार से मैं तमाम वेदनाओं से ग्रस्त हो गया।"

जैसा अनेक बार होता है, इस अवनत क्षण के समय ही जगदीशचंद्र को कुछ आभास हुआ और वे भयमुक्त हुए—"उस समय एक आश्चर्य-सा घटा। एक अवैज्ञानिक घटना! सफेद साड़ी पहनी हुई एक कृश, दुःखी विधवा मेरे सामने खड़ी हुई। उसने मुझसे कहा, 'यशस्वी होने के लिए मैंने तुम्हें चुना है।' और इसी क्षण मेरी मनोदुर्बलता समाप्त हो गई। यातनाएँ लुप्त हो गईं। अंदर-ही-अंदर मैं शांति का, स्वस्थता का अनुभव करने लगा। ...व्याख्यान के समय मेरे मुख से कौन बोला, यह मुझे भी पता नहीं। मैं सहजता से बोलता गया और श्रोताओं को विषय समझाता गया।"

व्याख्यान की परीक्षा में तो बसु यशस्वी रहे, लेकिन व्याख्यान के कुछ मिनट पहले उन्हें निर्लोभित्व की भी एक परीक्षा देनी पड़ी। व्याख्यान को कुछ ही समय शेष रहते 'बेतार संदेश वाहन के क्षेत्र में काम करनेवाले एक उद्योग के मालिक ने* बसु को संदेश भेजा कि वे उनसे तुरंत मिलना चाहते हैं। बसु ने तुरंत वापसी संदेश दिया कि उनके पास समय नहीं है। लेकिन फिर भी वे कुछ ही क्षणों में बसु के सामने आकर खड़े हो गए। उनके हाथ में स्वामित्वाधिकार के पंजीकरण का आवेदन था। उन्होंने बसु से विनती की, "व्याख्यान में कृपया सभी ब्योरा न बताइए। उस खोज में भारी धन छिपा हुआ है। मैं आपके लिए स्वामित्वाधिकार रखता हूँ। आप नहीं जानते कि कितना धन आप ठुकरा रहे हैं। इसके व्यावसायिक उत्पादन हेतु पूँजी मैं लगाऊँगा—आधा मुनाफा आपका!"

बसु रवींद्रनाथ को लिखते हैं—"वह उद्योगपति एक भिखारी जैसा मुझसे प्रार्थना कर रहा था। ...मैंने तो उसे साफ-साफ ना कह दिया। ...दोस्त, इस देश में पैसों के लिए—और अधिक पैसों के लिए लोग ललचाए हुए हैं। अगर मैं एक बार इस जाल में फँस गया तो उससे छुटकारा नहीं।"

वह सरस्वती का उपासक था। चंचल, मोहमयी लक्ष्मी को उसने निर्धार के साथ पीठ दिखाई और शायद इसी कारण आगे जब उसे आवश्यकता महसूस हुई तब वही उसके पीछे चलता आया।

10 मई, 1901। रात के 9 बजने को कुछ ही समय शेष है। बसु का व्याख्यान सुनने को सभी उत्सुक हैं। विषय है—'The Response of Inorganic Matter to Mechanical and Electrical stimulus'। व्याख्यान का वृत्त जानने के लिए रवींद्रनाथ उत्सुक हैं। वह भेजने हेतु उन्होंने भगिनी निवेदिता को कहा है। उन्होंने रवींद्रनाथ को लिखा—

"ठीक 9 बजे अध्यक्ष महोदय मंच पर पधारे। उनके साथ प्रो. बसु एवं उनकी पत्नी थीं। व्याख्यान का आरंभ करने के पहले बसु ने एक बार श्रोताओं की ओर देखा और शांत व तनावमुक्त तरीके से बोलना आरंभ किया। उनके पीछे लटक रहे थे विभिन्न आलेखों के

फलक। सामने पटल पर थे विभिन्न उपकरण।

"आप जानते ही हैं कि प्रो. बसु अच्छे वक्ता नहीं हैं। वह उनके लिए कठिन ही बात रहती है। वे कुछ डरे-से एवं भावुक लगते हैं, लेकिन उस शाम मैंने पहली बार उन्हें इतनी सहजता से तथा आत्मविश्वास से बोलते देखा! उस दिन उन्होंने भौतिकी, रसायन एवं अन्य विज्ञानों के बीच जो दीवारें थीं, उन्हें तोड़ने का कार्य सहजता से किया। सजीव एवं अजीवों में भेद सुनिश्चित करने वाली व्याख्याएँ उन्होंने कचरे में फेंक दीं। विष प्रयोग से धातुओं को होनेवाली मृत्यु यातनाएँ उन्होंने दिखाईं तथा बाद में प्रतिविष देने पर विष का प्रभाव कैसे कम होता जाता है, यह भी दिखाया।

"अंत में उन्होंने एक नया उपकरण दिखाया। उसे वे 'कृत्रिम नेत्र' कहते हैं। मानव नेत्रों को दिखाई न देनेवाली (अदृश्य) किरण इस उपकरण की सहायता से देखी जा सकती है। ऐसा उनके द्वारा बताने पर पूरा सभागार आश्चर्यचकित हो गया।

"वैश्विक एकता का प्राचीन भारतीय संदेश उस दिन उधर जब आधुनिक भाषा में पुनः उद्घोषित हुआ, तब मैं कैसी रोमांचित हो उठी, यह मैं शब्दों में बता नहीं पाऊँगी। बसु नाम का व्यक्ति मानो लुप्त हो गया और उनका राष्ट्र ही मानो समूर्त होकर बोलने लगा। हम यह जान गए कि भारत अपना वैचारिक श्रेष्ठत्व अंततः पश्चिमी वैज्ञानिकों के सामने प्रस्थापित कर रहा है न कि शिष्य के रूप में, न सहाध्यायी के रूप में, अपितु जगद्गुरु के रूप में उस दिन भारत का पुनर्जन्म हुआ।"

"बसु ने उस दिन वैज्ञानिकों को पूर्णतः मान्य रहनेवाली वैद्युत् प्रतिसाद (Electrical response) की पद्धति के आधार पर ही सजीव एवं अजीवों के बीच की दरार मिटा दी। वैद्युत्-प्रतिसाद की तीव्रता शारीरिक क्रियाओं की निर्देशक मानी जाती है। जब क्रियाएँ जोर से चलती हैं तो प्रतिसाद भी तीव्र होता है। अगर सजीव को बेहोशी की दवा दी गई तो उसका प्रतिसाद कम होता जाता है। मरने पर प्रतिसाद भी शून्य हो जाता है। इसलिए सजीव एवं अजीव के बीच का अंतर दरशाने हेतु एक सामान्य कसौटी के रूप में वैद्युत् प्रतिसाद का उपयोग किया जाता है—जो प्रतिसाद देता है वह सजीव, नहीं देता है वह अजीव।

"लेकिन यह कहाँ तक सत्य है?" बसु ने सामनेवाले वैज्ञानिकों से पूछा, "अजीव पदार्थ प्रतिसाद नहीं देते, क्या यह सत्य है? क्या उनके बीच की दरार अनुल्लंघ्य है?"

ऐसा पूछकर बसु ने राँगे का एक तार लिया और उसे मरोड़ा। यह एक तरीके की उत्तेजना है—यांत्रिक उत्तेजना (mechanical stimulus)। इस उत्तेजना के कारण उस धातु का बदला वैद्युत्-प्रतिसाद उन्होंने सबको दिखाया। फिर उन्होंने पूछा, "...एक अजीव द्रव्य द्वारा मिले प्रतिसाद का सजीवों द्वारा मिलनेवाले प्रतिसाद से कितना सामर्थ्य है! मैं आपके सामने दो चित्र रखता हूँ। समान बाह्य उत्तेजना को सजीव एवं अजीवों द्वारा दिए प्रतिसाद के ये आलेख हैं।"

बसु ने सबको चित्र दिखाए। राँगे द्वारा महसूस की थकान, बिलकुल स्नायु की थकान जैसी ही थी।

उसके बाद बसु ने 'कृत्रिम दृष्टि-पटल' (Artificial Retina) नामक अपने एक उपकरण का प्रदर्शन किया। अतिनील किरणों से लेकर हट्र्ज तरंगों तक सभी विद्युत्-चुंबकीय तरंगें उससे किस प्रकार ग्रहण की जाती हैं, यह उन्होंने प्रयोगों की सहायता से दिखाया। उसके प्रतिसाद का आलेख डॉ. वॉलर ने मेढक के दृष्टि-पटल के प्रतिसाद का जो आलेख पहले ही निकाला था, उससे कैसे मिलने-जुलने वाला है, यह दिखाया। यानी कि मानवी नेत्रों को न दिखाई देनेवाले प्रकाशीय वर्णपट के परे जो विद्युत्-चुंबकीय तरंग है, उन्हें देख पानेवाला यह एक कृत्रिम नेत्र ही था। अगर अदृश्य विद्युत्-चुंबकीय तरंगों के रूप में किसी एक स्थान से संदेश प्रेषित किया गया तो इस उपकरण की सहायता से उसे ग्रहण करना संभव था। बेतार संदेशवाहन के क्षेत्र में यह एक महत्त्व की एवं तब तक असाध्य ऐसी उपलब्धि थी। म्युइरिहेड को इस खोज में, उसके व्यावहारिक उपयोग में, उसमें से मिलनेवाले आर्थिक लाभ में रुचि थी। और इसलिए व्याख्यान के पहले बसु से संपर्क करके उन्होंने इस खोज के सभी रहस्य उजागर न करने के लिए बार-बार प्रार्थना की थी। उसके व्यवसाय में बसु को भागीदारी देने का प्रस्ताव रखा था। बसु ने वह आर्थिक लाभ तो ठुकरा दिया था, लेकिन म्युइरिहेड की रहस्य न खोलने की विनती बसु ने उस समय मान्य की। यह दृष्टि-पटल 'गैलिना' नाम के सीसे के एक प्रकाशसंवेदी लवण से बनाया है, यह बात उन्होंने व्याख्यान में नहीं बताई। ऐसा क्यों किया होगा बसु ने? उस समय नहीं, लेकिन भविष्य में किसी समय इस खोज का व्यावसायिक लाभ उठाने का क्या बसु का विचार था?

भविष्य में इस संबंध में जो घटनाएँ घटीं, वह देखते हुए ऐसा नहीं लगता कि बसु के मन में आर्थिक लाभ का विचार कभी था। तो इसका एक ही कारण हो सकता है—बार-बार प्रार्थना करनेवाले डॉ. म्युइरिहेड को पूरा नाराज न करना! उनको ऐसा न लगे कि 'बसु ने निर्दयता से मुझे पूरा ठुकरा दिया।' शायद और भी एक कारण हो सकता है—पूरा रहस्य खोला तो म्युइरिहेड उनके नाम पर स्वामित्वाधिकार ले लेंगे और आर्थिक लाभ हेतु उसका उपयोग करेंगे।

इसका परिणाम बसु को व्याख्यान के तुरंत बाद मिला। इस व्याख्यान के लिए बेतार संदेशवाहन के क्षेत्र की कई हस्तियाँ उपस्थित थीं और उनकी आँखें उस कृत्रिम आँख पर थीं! बसु की आँखों में धूल झोंककर यह आँख चुरा ले जाना तो कठिन था, लेकिन व्याख्यान के बाद उनके पटल के चारों ओर अभिनंदन करनेवालों की जो भीड़ जमा हुई, उसका लाभ उठाकर किसी ने सहायक के लिए रखी एक नोटबुक तो गायब की ही!

'कृत्रिम नेत्र', यह विषय समाप्त होने पर बसु फिर मूल विषय पर आए—सजीव एवं अजीवों से मिलनेवाले प्रतिसादों का साधार्य। यांत्रिक उत्तेजनाओं को दोनों से मिलनेवाले प्रतिसादों के विवेचन के बाद बसु रासायनिक द्रव्यों से मिलनेवाले प्रतिसाद की ओर मुड़े। किसी दाहक व जहरीले रसायन के कारण जीवित पेशी मृत हो जाए एवं उसका वैद्युत्-प्रतिसाद शून्य हो जाए, ठीक उसी तरह सोडियम कार्बोनेट तथा कॉस्टिक पोटैश से राँगे का

होता है, यह बसु ने दिखाया। 'अजीव' पदार्थ 'मरने' का चमत्कार देखकर सामनेवाले वैज्ञानिक अचंभित ही हो गए। फिर जगदीशचंद्र ने उन्हें और चकित किया। सही समय पर यदि प्रतिबिंब दिया गया तो वह विष का परिणाम दूर कर देता है—पेशी सामान्य स्थिति में आ जाती है। उन्होंने धातु के बारे में ऐसे ही होते दिखाया। प्रतिविष या मूल विष की सूक्ष्म मात्रा का उपयोग करने पर धातु ने फिर 'वैद्युत्-प्रतिसाद' देना आरंभ किया। एक बार दिल का दौरा पड़ने के बाद उसकी धड़कन फिर आरंभ हो, इस प्रकार का यह चमत्कार था।

प्रयोगों के ऐसे निष्कर्ष, आलेख आदि सबके सामने प्रस्तुत करने के बाद बसु ने कहा, "सजीव एवं अजीवों ने विभिन्न तनावों के दिए प्रतिसाद अपने ही हाथों से लिखा, यह इतिहास है।" इन प्रतिसादों में होनेवाले अविश्‍वसनीय साधार्य की ओर ध्यान आकृष्ट करके बसु ने अंत में कहा—

"ऐसे समय हम ऐसी एक विभाजक रेखा कहाँ निकाल सकते हैं, जिसके एक ओर भौतिक क्रियाएँ हैं तथा दूसरी ओर जैविक? वास्तव में ऐसी विभाजक रेखाएँ हैं ही नहीं। क्या आलेखों पर आरेखित प्रतिसादों के ये दो संघ समूचे वस्तुगत के समान सामयिक एवं सातत्यशील गुणधर्मों की ओर निर्देश नहीं करते? क्या सजीवों में दिखाई देनेवाली प्रतिसाद की प्रक्रिया अजीवों में नहीं दिखाई देती? क्या सजीव एवं अजीवों में एक अखंडितता है? एक ही नियम अखंडता तथा सातत्य से सभी जगह कार्यरत है, ऐसा इससे दिखाई नहीं देता?

जब मैंने यह स्वलिखित इतिहास देखा, तब मुझे ज्ञान हुआ वैश्विक एकता का। प्रकाश में चमकनेवाले एक धूलिकण से लेकर तेजस्वी सूर्य तक सबको स्वयं में समा लेनेवाली एकता का! और उस समय तीन सहस्रक पूर्व, गंगा के किनारे हमारे पुरखों ने जो संदेश उद्घोषित किया, उसका कुछ आकलन मुझे हुआ। 'नित्य परिवर्तनशील नाम-रूपों के मूल में होनेवाली एकता का दर्शन जिन्हें होता है, उन्हें ही शाश्वत सत्य का ज्ञान होता है—और किसी को नहीं!'

औपनिषदिक मंत्र से समाप्त हुए बसु के इस भाषण से सारे श्रोता मंत्रमुग्ध हो गए। श्रोताओं में प्रिंस क्रोपोट्किन, सर विलियम क्रुक्स ऐसे दिग्गज थे। व्याख्यान समाप्त होते ही कई वैज्ञनिक मंच पर गए और उत्कृष्ट कार्य के लिए उन्होंने बसु को बधाई दी। सर क्रुक्स तो अंतिम मंत्र से इतने प्रभावित हुए कि बसु से उन्होंने कहा, "रॉयल इंस्टीट्यूशन अपना यह व्याख्यान जब प्रकाशित करेगा तब वह अवतरण उसमें अवश्य समाविष्ट करें। इतना भव्य विचार शायद ही सुनने को मिलता है।" धातु विषय के सर रॉबर्ट ऑस्टीन ने कहा, "मैं जिंदगी भर धातु के गुणधर्मों का अध्ययन करता रहा हूँ। वे 'सजीव हैं यह जानकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ।" ऑस्टीन ने ही एक बार रॉयल इंस्टीट्यूशन में व्याख्यान देते समय सजीव एवं अजीवों के संभाव्य साधार्य के बारे में हिचकिचाते हुए ही एक उल्लेख किया था जिसकी कड़ी आलोचना हुई थी। बसु के यह बात पूरे निश्चय से साबित करने पर तथा निर्भयता से सबके सामने बोलने पर ऑस्टिन ने उनका अभिनंदन किया।

लेकिन कुछ वैज्ञानिकों का मत इसके विपरीत रहा। उन्हें यह सब 'अवैज्ञानिक' लगा। बसु कुछ 'आध्यात्मिक' बातें बोल रहे हैं, ऐसा उन्हें लगा। वास्तव में ऐसा नहीं था। बसु वैश्विक एकता वैज्ञानिक पद्धति से ही सिद्ध कर रहे थे। लेकिन अद्वैत की ओर निर्देश करनेवाली कोई भी बात उस समय के वैज्ञानिकों को मान्य होने वाली नहीं थी। अब पूरे सौ वर्ष बाद भी अंतिम एकता को माननेवाले वैज्ञानिक मुट्ठी भर हैं। बाकी सारे अभी भी उस विभाजनात्मक, विखंडनात्मक प्रतिमान में जड़े हुए हैं। ऐसे सन् 1901 में तो उनकी संख्या अत्यल्प होना स्वाभाविक ही था। एक विद्युत्-शास्त्रज्ञ स्विंटन ने बसु के व्याख्यान के बाद अपने मित्रों से कहा, "ये सब विज्ञान से कोसों दूर है। गूढ़ बौद्ध तत्त्व ज्ञान है, अध्यात्म है!" वैज्ञानिकों के ऐसे मतों को सनसनी की निरंतर खोज में रहनेवाले पत्रकारों का साथ मिला और बसु का प्रतिपादन कम-असल माना गया। बाद में बसु को लगा कि उनका अंतिम मंत्र का उद्धरण ही ऐसा होने के लिए काफी जिम्मेदार है। शायद इसीलिए Royal Institution Library of Science में इस अवतरण के साथ प्रकाशित हुए इस व्याख्यान में से यह अवतरण तथा उसके पहले का एक पैरा, बसु ने जब आगे उनके 'Collected Physical' प्रकाशित किए, तब निकाल दिया।

बसु के विचार एवं प्रयास समकालीन वैज्ञानिकों को पूर्णतः मान्य न हों, इसमें दोष न बसु का है, न उन वैज्ञानिकों का। वह तो समय की ही महिमा है। रेने देकार्ते नाम के फ्रांसीसी वैज्ञानिक विचारखंड ने 'विज्ञान' को द्वैत, जड़वाद, वस्तुनिष्ठता, विखंडन की विचार पद्धति ऐसी एक चौखट में बंद कर दिया था। इस चौखट को तोड़ने के लिए एक जबरदस्त ताकत के वैज्ञानिक की ही आवश्यकता थी। बसु में ये ताकत अवश्य थी; एवं उसका उपयोग करके विज्ञान को अद्वैत की ओर ले जाने वाले के बिना वे वैज्ञानिक रहे। लेकिन कार्य और यश में परिस्थिति की बाधा रहती है, जो बसु को भुगतनी पड़ी। वे एक गुलाम देश के नागरिक थे—एक अवनत, हतप्रभ समाज के घटक! उनके राष्ट्र को वैज्ञानिकों का राष्ट्र नहीं माना जाता था। इतना ही नहीं, उस राष्ट्र को उलटे अवैज्ञानिक, गूढ़, अध्यात्म का एवं योग-साधकों का राष्ट्र माना जाता था। ऐसे राष्ट्र के लिए किसी वैज्ञानिक ने कितनी भी दक्षता एवं सुबूतों के आधार पर भी क्यों नहीं—अगर कुछ वैज्ञानिक प्रतिपादन किया तो उसकी ओर भी संशय से ही देखा जाया करता और ऐसे में बसु वही अध्यात्म, वही अद्वैत वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध करने जा रहे थे! तो उनके मतों का स्वीकार होना काफी कठिन ही था। यह बहुमान प्राप्त हुआ आइंस्टाइन को। अपने एक छोटे समीकरण के जरिए उन्होंने देकार्ते द्वारा रचित चौखट तोड़ डाली और विज्ञान का अद्वैत की ओर पुरःसरण शुरू कर दिया। आइंस्टाइन का कर्तृत्व महान् है; लेकिन यह बात भूली नहीं जा सकती कि बसु ने एक दशक पहले उतना ही महान् कर्तृत्व रचा था। बसु यशस्वी रहे या नहीं, यह मुद्दा गौण है। उस अपयश के पीछे उनके हाथ में न होनेवाले कारण एवं राजनीति थी। दुनिया माने या न माने, हम भारतीयों को उनकी महत्ता एवं श्रेष्ठता जाननी तथा मान्य करनी चाहिए।

और दुनिया ने भी यह श्रेष्ठता बाद में मान्य की ही! 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' ने सन् 1949 में 'बोस, जे.सी.' नामक प्रविष्टि में लिखा है—"उनका कार्य उनके काल से इतना आगे था कि उसका (उस काल में) समुचित मूल्य मापन करना अशक्य था।" ऐसी महत्ता, इतनी

ऊँचाई न केवल सामान्यों के अपितु समान वैज्ञानिकों के आकलन के बाहर होती है, अतः उनका सही मूल्यांकन उनके काल में नहीं हो सकता। धीरे-धीरे प्रगति होकर दशकों-शतकों के बाद जब ज्ञान की ऊँचाई या विस्तार बढ़ता है तब ऐसे इतिहासकालीन महान् व्यक्तियों के कर्तृत्व का यथार्थ आकलन होने लगता है। जितनी उसकी ऊँचाई अधिक, उतना उसे उचित सम्मान एवं न्याय मिलने के लिए लगनेवाला समय अधिक! जगदीशचंद्र के बारे में ठीक वैसा ही हुआ। विज्ञान को अद्वैत की ओर ले जानेवाले उनके विचारों को दुनिया को समझने में दशकों का समय लगा। सन् 1917 में जब उन्हें 'सर' का खिताब मिलने पर उनका सम्मान किया गया, तब उस जनसभा के अध्यक्ष स्थान से बोलते समय आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने कहा कि "बसु को मात्र वैज्ञानिक सत्यों के अन्वेषक' रूप में ही देखना पर्याप्त नहीं है। वे 'युग-प्रवर्तक' हैं यह हमें जानना चाहिए, जिसने विज्ञान के क्षेत्र में संश्लेषण का, एकत्रीकरण का युग आरंभ किया।"

यद्यपि बसु अद्वैत-विज्ञान-युग के आरंभकर्ता है, उनको यह कार्य अनगिनत विरोधों एवं विरोधकों का सामना करके ही करना पड़ा। रॉयल इंस्टीट्यूशन के व्याख्यान के बाद बसु ने एक मूक असहमति महसूस की! लेकिन एक महीने के अंदर ही यह मौन बोलने लगा; उसने बसु का खुला विरोध आरंभ किया।

यह घटना घटी 6 जून, 1901 को रॉयल सोसाइटी के व्याख्यान के समय। लेकिन ऐसा कुछ होने वाला है, इसकी पूर्वकल्पना बसु को थी। 17 मई, 1901 को रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में वे कहते हैं—"शरीर-वैज्ञानिकों को 'जीवन' एक उच्च, महान् बात लगती है, इसलिए वे उनका शास्त्र पदार्थ-विज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं। कुछ मूढ़ लोगों को ऐसा लगता है कि जीवन-प्रक्रिया अगर वैज्ञानिक पद्धति से बनाना संभव हुआ तो फिर 'भगवान्' की क्या आवश्यकता है? वे उनके ही घमंड में रहते हैं। जो श्रद्धालु ईसाई वैज्ञानिक हैं, वे तो हतबल हुए हैं। परिणामस्वरूप अनेक ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिकों के सहकार्य एवं सद्भाव से मैं वंचित रहने वाला हूँ। डॉ. वॉलर ने दावा किया है कि 'जीव' का मौलिक स्वरूप उन्होंने खोजा है। वे मेरे अनुसंधान से दुःखी हो गए हैं। इन सबके साथ मुझे अकेले लड़ना है। भविष्य में मुझे कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा, यह बताया नहीं जा सकता।"

बसु के लिए कई मुसीबतें भविष्य में छिपी हुई थीं। उनका सामना उन्हें अकेले ही करना था। यह एक तप ही था। जब तक सोना तपता नहीं, चमकता नहीं!

बसु को पूरा खत्म करने हेतु शरीर वैज्ञानिक सज्ज थे। 6 जून की राह वे भी देख रहे थे।

वह दिन बीता। व्याख्यान देने के लिए जगदीश दा तैयार हुए। विषय लगभग वही था—'सजीव एवं अजीवों का साधर्म्य'। लेकिन इस व्याख्यान में एक कदम आगे चलने का उनका विचार था—वनस्पतियों का प्रतिसाद भी उसी तरह का होता है, यह सिद्ध करना। व्याख्यान के दौरान प्रयोगों के द्वारा उन्होंने वह सिद्ध भी किया।

व्याख्यान समाप्त हुआ और चर्चा के लिए खड़े हो गए सर जॉन बर्डन-सॅडरसन—शरीर-

शास्त्र के भीष्माचार्य। वैद्युत् शरीर-शास्त्र (Electro-physiology) में अंतिम शब्द उनका।

अपने प्रतिपादन का प्रारंभ उन्होंने किया बसु को बधाई देकर। पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में बसु ने जो महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उसके लिए उन्होंने उनकी सराहना की। लेकिन उन्होंने कहा, "ऐसे श्रेष्ठ अनुसंधानकर्ता का अपना क्षेत्र छोड़कर शरीर-शास्त्रज्ञों के क्षेत्र में घुसना खेद की बात है।" रॉयल सोसाइटी बसु का यह व्याख्यान निबंध में रूप में अपने 'प्रोसीडिंग्ज' में प्रकाशित करनेवाली थी। बर्डन-सॅडरसन ने उसके शीर्षक पर ही आक्षेप किया। 'Electrical Response In...' जो शीर्षक बसु ने दिया था, 'Certain Physical Reactions In...' वह ऐसा बदला जाए, ऐसा सुझाव उन्होंने दिया, क्योंकि 'प्रतिसाद' एक शरीरशास्त्रीय बात है और पदार्थ-वैज्ञानिकों का उससे कोई लेना-देना नहीं होनी चाहिए। वनस्पतियों के वैद्युत्-प्रतिसाद के बारे में उन्होंने कहा, "मेरी पूरी जिंदगी वनस्पतियों के अध्ययन में बीती है। मैं पिछले कई वर्षों से विभिन्न वनस्पतियों का प्रतिसाद प्राप्त करने के प्रयास कर रहा हूँ, लेकिन मुझे यश नहीं प्राप्त हुआ है। मात्र छुई-मुई (mimosa) से प्रतिसाद मिलता है। ऐसी वैसी कोई भी वनस्पति प्रतिसाद देगी, यह संभवनीय नहीं है अपितु सर्वथा असंभव है।"

एक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ वैज्ञानिक का पूरी ताकत से किया यह हमला था, जिनके नाम का दबदबा पूरे वैज्ञानिक जगत् में था, ऐसे पितामह के हमले से कोई भी वैज्ञानिक डर जाता। उसके पैर लड़खड़ाने लगते, लेकिन बसु के अनुभवी होते हुए भी हुआ उलटा ही। अपना ज्ञान, प्रयोग एवं अनुसंधान, इनके बारे में वे इतने आश्वस्त थे कि स्पष्ट शब्दों में युक्तिवाद करके उन्होंने अपना पक्ष सबके सामने रखा। उन्होंने पहले यह स्पष्ट किया कि किए गए आक्षेप प्रयोगों द्वारा सिद्ध की गई बातों पर नहीं हैं। अगर किसी प्रकार के प्रयोगों द्वारा इन आक्षेपों की पुष्टि नहीं की जाती, जब तक वे मात्र 'अधिकार' (authority) के आधार पर लिये जाते हैं, तब तक वे उनके सामने नहीं झुकेंगे। फिर उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक शब्दों पर किसी का स्वामित्वाधिकार नहीं होता और सिद्ध करने की बात ही अगर 'पृष्ठीय भेदों के नीचे की मौलिक एकता' है तो ऐसे (आंतर-विद्याशास्त्रीय) शब्दों पर लिये आक्षेप निरर्थक हैं। तीसरा मुद्दा था बर्डन-सॅडरसन को यश न मिलने का। 'मुझे जिंदगी भर प्रयोग करके यश नहीं मिला है, इसलिए दूसरे किसी को भी यश नहीं मिल सकता', यह बात ही अपने में अतार्किक है। यह उनका मात्र दुरभिमान था। इस विधान पर उचित आक्षेप लेते हुए बसु ने उत्तर दिया, "किसी भी विषय का ज्ञान एक निश्चित मर्यादा के आगे नहीं जा सकता, ऐसे कैसे कहा जा सकता है?" अंत में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, "मेरे प्रयोगों में क्या खामियाँ या गलतियाँ हैं, यह जब तक कोई वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध नहीं करता, तब तक मेरा निबंध 'जैसा है वैसा' ही प्रकाशित किया जाए, इसके बारे में मैं आग्रही रहूँगा।"

बाप रे बाप! बर्डन-सॅडरसन जैसे दिग्गज को खुली चुनौती!

कोई कुछ नहीं बोला। सभागृह में तनावपूर्ण सन्नाटा फैल गया। अध्यक्ष ने सभा-समाप्ति की घोषणा की।

बसु के आह्वान को स्वीकार किसी ने भी नहीं किया—न बर्डन-सॅंडरसन ने भी। लेकिन उनका दबदबा भारी था। बसु का निबंध 'जैसा है वैसा' प्रकाशित करने की हिम्मत सोसाइटी में नहीं थी। उन्होंने उसे प्रकाशित न करने का निर्णय किया। बसु का वह निबंध कपड़े में बाँधकर सोसाइटी के संग्रहालय में रख दिया गया—उसी प्रकार के पहले के अन्य निबंधों के साथ!

यह उद्वेगजनक प्रसंग देखकर बसु को याद आई भारत की जाति-व्यवस्था की, उसमें निहित उच्च-नीचता की। इस वर्ण-व्यवस्था के कारण अनेक योग्य पात्र व्यक्तियों को बहुत कुछ भुगतना पड़ा। वही दुःख आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में बीसवीं सदी में बसु को भी भुगतने पड़े और वह भी भारत की इस व्यवस्था की कड़ी आलोचना करनेवाले गोरे लोगों के देश में! सच यह है कि ज्ञान तथा तज्जन्य वर्चस्व को कोई त्यागना नहीं चाहता। इसलिए कर्ण हो या एकलव्य, कोपरनिकस हो या बसु—सबको दमन का अनुभव करना पड़ता है।

"शांत हो जाओ, बेटे!" उन्हें समझाते हुए बाद में लॉर्ड रेले ने कहा,"मुझे भी ठीक ऐसे ही दमन का अनुभव प्राप्त हुआ है। तुम्हें इसका कुछ बुरा मानने का कारण नहीं है। मैं पदार्थ वैज्ञानिक था, लेकिन ऑर्गन नाम का तब तक अज्ञात मूलद्रव्य हवा में मिल सकता है, ऐसा भविष्य-कथन करने का साहस मैंने किया, इसलिए रसायन-शास्त्रियों ने मुझ पर ऐसे ही हमले किए। वह उनका क्षेत्र था न! पदार्थ वैज्ञानिक वहाँ कदम नहीं रख सकते। लेकिन मैं दबा नहीं, डरा नहीं। अपना अनुसंधान-कार्य मैंने सर विलियम रॅमसे के साथ जारी रखा और कुछ ही महीनों में हमने ऑर्गन की खोज की! अतः तुम्हें भी ऐसी आलोचनाओं, हमलों की अनदेखी करके अनुसंधान करते रहना चाहिए।"

रवींद्रनाथ को लिखे एक पत्र में बसु ने कहा था—"इस देश में विभिन्न विद्या शाखाओं के वैज्ञानिकों में तीव्र वितुष्टि है। पदार्थ वैज्ञानिक एवं रसायन-शास्त्रज्ञों की एक-दूसरे से नहीं पटती और जीव-वैज्ञानिकों का दोनों से! वे स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं; क्योंकि वे सजीवों का अध्ययन करते हैं, मृतों का नहीं। मानो वे भौतिक नियमों के परे है! खबरदार अगर कोई हमारे क्षेत्र में प्रवेश करे तो, ऐसा उनका भाव हमेशा रहता है।"

ऐसी स्थिति में जीव-वैज्ञानिकों का मुँह बंद करने का एक ही मार्ग था—अधिक प्रयोग, अधिक सुबूत!

जगदीशचंद्र ने यही मार्ग अपनाने का निर्णय किया। उन्हें समर्थन देते हुए सर विलियम क्रुक्स ने कहा, "इस देश में कई वैज्ञानिक इस विषय में अनुसंधान कर रहे हैं; लेकिन वे दिशाहीन हैं। आपका ऐसा नहीं है। जिस क्षेत्र में आप काम कर रहे हैं, वह समुंदर-सा अथाह है। आप जितना आगे या अंदर जाएँगे, उतना कम है।" बसु का मनोबल ऊँचा करने हेतु एक दूसरे वृद्ध वैज्ञानिक ने कहा, "आपका प्रतिपादन इस देश के वैज्ञानिकों ने स्वीकार हुआ आप शायद देख नहीं पाओगे—इतनी लंबी उम्र भगवान् किसी को नहीं देता। आपके मत स्वीकारना यहाँ के धर्म-श्रद्धावान लोगों के लिए अत्यंत मुश्किल है। लेकिन आप दृढ़ता से दीर्घकाल तक काम करते रहे तो आनेवाली पीढ़ियाँ आपका मत स्वीकृत करेंगी। क्या आप

इतने दीर्घकाल तक काम कर सकते हैं? आपको लगता होगा कि वैज्ञानिक बड़े उदार मन के होते होंगे। बिलकुल गलत! वस्तुतः वे अत्यंत संकुचित मन के होते हैं। उन्हें जितनी समझ है, उतने में ही वे संतुष्ट रहते हैं। आपके प्रतिपादन से जीव-शास्त्र के प्रस्थापित मतों को धक्का पहुँच रहा है। वे उलटे-पलटे हो रहे हैं। क्या जीव वैज्ञानिक अपनी हार मान्य करेंगे? आप उन्हें मजबूर करेंगे, तभी वे अपने मत बदलेंगे। लेकिन इसके लिए वर्षों तक आपको लड़ना होगा तथा हिम्मत एवं हौसला बनाए रखना होगा। आपने हार मानी तो यह विषय फिलहाल यहीं रुक जाएगा। फिर वर्षों दशकों बाद कोई न कोई आगे आकर आपका कार्य आगे ले जाएगा, नाम कमाएगा।"

रवींद्रनाथ को यह सब बताकर बसु आगे लिखते हैं—"यह सब कार्य करने के लिए मेरे साथ अनुसंधानकर्ता एवं विद्यार्थी होने चाहिए। वे तो हैं नहीं। लेकिन मेरा स्वयं पर पूरा भरोसा है।"

सौभाग्य से इंग्लैंड की सुसज्जित प्रयोगशालाओं के द्वार बसु के लिए खुले थे। बसु का अंदाजा था कि और दो वर्ष तक अगर प्रयोग व अनुसंधान किया जाए तो काफी सुबूत इकट्ठा हो जाएँगे। लेकिन फिर वही अड़चनें—अवकाश एवं पैसा! लेकिन काम पूरा होने तक भारत न लौटने का बसु का निश्चय पक्का था। इसलिए सितंबर में समाप्त होनेवाला विशेष अवकाश दो वर्षों के लिए बढ़ाने की प्रार्थना उन्होंने भारतमंत्री से की। वह तत्काल अमान्य हो गई। फिर बसु ने अर्जित अवकाश उपलब्ध होने के लिए आवेदन दिया। उसको मान्यता तो मिली, लेकिन वेतन-कटौती की छुरी भी चली। जगदीशचंद्र को यह अनपेक्षित नहीं था, इसलिए उन्होंने इसका कुछ भी बुरा नहीं माना। और दूसरी ओर उन्हें यह भरोसा भी था कि भारत स्थित उनके मित्र उन्हें आर्थिक विवेचना में पड़ने नहीं देंगे।

उनका अधिकतर भरोसा था रवींद्रनाथ पर। 'जगदीश को काम अधूरा रखकर लौटना न पड़े', यह रवींद्रनाथ की तीव्र भावना थी। वे पुनः बसु को लिख रहे थे—"असमय भारतवर्षे फिरिले पाछे तोमार कर्म-समाधा संबंधे व्याघात करिया तोमाके तोमार कर्म संपन्न करिते होईबे। जे वैज्ञानिक रश्मी तोमार माथार मध्ये स्पंदित होईतेछे, ताहाके विश्वसंसारेर गोचर करिने होईबे। तोमार काजे आमादरे स्वार्थ—सुतरां शेई कार्य समाघार व्यय आमादेरई वहनीय। तूमि असमये तोमार कार्य असंपन्न रखिया फिरियोना—आमार तो एइ परामर्शे।"

और सचमुच ही रवींद्रनाथ 'कार्य समाघार व्यय' के लिए पैसे जुटाने के लिए द्वार-द्वार भटक रहे थे। अपने नाम एवं प्रतिष्ठा का उपयोग करके कक्ष की मदद मिल सकती है क्या, इसकी तलाशी में थे। बसु ने 11 जुलाई, 1901 के पत्र में उन्हें लिखा था कि उन्हें एक वर्ष के लिए 12,600 रुपए मिलते हैं। कम-से-कम उतनी रकम का इंतजाम करने का प्रयास रवींद्रनाथ कर रहे थे।

इसी संबंध में रवींद्रनाथ को श्री रोमेशचंद्र दत्त का पत्र 16 जुलाई को प्राप्त हुआ। श्री दत्त आई.सी.एस. की सनद प्राप्त किए हुए विद्वान् थे। उनका विषय था अर्थ-शास्त्र। इस विषय

में उन्होंने कुछ मौलिक लेखन किए हैं। बडौदा संस्थान के महाराज श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ भारत भर से विद्वानों को खोजकर अपने संस्थान में लाए थे। इनमें अरविंद घोष के साथ रोमेशचंद्र भी थे। सरकार के अर्थ विभाग में कार्यरत थे। अवकाश ग्रहण के पश्चात् सन् 1900-01 के दौरान वे लंदन में रहते थे। भगिनी निवेदिता को वे अपनी ईश्वरदत्त कन्या मानते। उनके या शायद रवींद्रनाथ के माध्यम से उनका जगदीशचंद्र से परिचय था। बसु के कार्य की, परिस्थिति की उन्हें कल्पना थी। शायद इस नजदीकी के कारण या तो शायद रवींद्रनाथ से पूछताछ करने के कारण रोमेशचंद्र ने यह पत्र लिखा है—"डॉ. बसु जिस शासकीय सेवा में हैं, उससे वे मुक्त हो जाएँ तथा अपने राष्ट्र को गौरव प्राप्त कर देनेवाला अनुसंधान आयु भर करें, ऐसे प्रयास कुछ देशवासी कर रहे हैं, यह जानकर मुझे हर्ष हुआ। यह विचार अत्यंत सराहनीय है, क्योंकि आज अगर हमने यह अवसर गँवाया तो फिर से वह प्राप्त करने के लिए शायद एक पीढ़ी तक रुकना पड़ेगा। डॉ. बसु ने विस्मयजनक एवं मौलिक अनुसंधान किया है। वह और भी कई सत्यों की खोज की दहलीज पर पहुँच चुके हैं, जिनसे हमारी प्रतिष्ठा बढ़ने वाली है एवं हमें नाम प्राप्त होने वाला है, लेकिन विरोधियों का सामना करते-करते यश की चोटी पर पहुँचने के लिए उन्हें वर्षों तक काम करना पड़ेगा। उन्हें आधार देना, हौंसला बनाए रखकर उन्हें निरंतर कार्यरत रखना—यह हमारा दायित्व है। भारत सरकार यह न करेगी, न करना चाहती है। यहाँ का कार्य अधूरा छोड़कर उन्हें कलकत्ता लौटना पड़े तो भी सरकार को बुरा नहीं लगेगा, यह मैं और रवि तुम भी जानते हो। इसलिए यश एवं कीर्ति के लिए झगड़ने का वक्त नहीं है।

"बसु को यहाँ आनेवाले खर्चे का अंदाजा हम लगा सकते हैं। एक सहायक के लिए वार्षिक 200 पौंड, लगभग उतनी ही रकम उपकरणों के लिए तथा उन दोनों की गृहस्थी, प्रवास आदि के लिए लगभग 600 पौंड। यानी कुल मिलाकर एक वर्ष के लिए 1,000 पौंड (15,000 रुपए) उन्हें मिलना आवश्यक है। मेरी जानकारी के अनुसार भावनगरी को यहाँ रहकर राजकीय कार्य करने के लिए इससे तीन गुना रकम मिलती है। फिर अपने देश के एकमात्र वैज्ञानिक को उसकी एक-तिहाई रकम देना क्या मुश्किल है?"

"लेकिन कटु पूर्वानुभव के आधार पर मैं कहूँगा कि प्रतिवर्ष उतनी रकम जमा करने की हम न सोचें। उतना ब्याज मिले, इतनी रकम इकट्ठा करके हम किसी बीमा कंपनी में रखें, जिससे डॉ. बसु की असुविधा, अवमानना एवं चिंताएँ जन्म भर के लिए दूर होंगी।"

"हमारे एक वैज्ञानिक को अनुसंधान-कार्य के लिए सदा के लिए स्वतंत्र करने का यह आखिरी अवसर है। अगर हमने यह गँवाया तो हमारा राष्ट्र-प्रेम कम है। यह मेरी बात इतनी ही तीव्रता से तुम भी महसूस कर रहे हो, यह मैं जानता हूँ। इसलिए मेरा तुमसे आह्वान है कि अपने स्थान-प्रभाव का उपयोग करके तुम अपने देश के लिए निजी दानों के जरिए यह रकम इकट्ठा करो।"

रवींद्रनाथ के इस तरह के प्रयास पहले से ही शुरू थे, लेकिन रोमेश बाबू का पत्र मिलने पर वे और ही सक्रिय हो गए। त्रिपुरा संस्थान के नरेश श्री राधाकिशोर उनके पुराने दोस्त थे। रवींद्रनाथ काफी समय से पैसों के लिए उनके पीछे थे। इस काम हेतु उनका महाराजा के

पास बार-बार आना-जाना होता था। इससे कुछ लोगों के मन में ऐसी गलतफहमी पैदा हुई कि पुरानी पहचान एवं नजदीकी संबंधों का लाभ उठाकर रवींद्रनाथ महाराजा को लूट रहे हैं। ऐसे लोगों को उचित जवाब देने के लिए ठाकुर महिमचंद्र देववर्मा को लिखे पत्र में रवींद्रनाथ ने लिखा—"केवल जगदीश बाबू र कार्ये आभिमान अपमान अभिमान किछूई मने स्थान दिने पारि ना—लोके आमाके जाहाई बोलूक एवं जतई बाधा पाई ना केनो ताँहाके बन्धनमुक्त, भारमुक्त करिते पारिले आमि कृतार्थ होईबो। ईहा केवल बन्धुत्वेर कार्य नोहे, स्वदेशेर कार्य।...आमि धनरि पुत्र किंतु धना नहि—अंतरे ईश्वर जे सकल शुभ संकल्प प्रेरण करेन नाहा साधनेर क्षमता आमार होते देव नाई। सुतां शुभकर्मेर अंतरायस्वरूप समस्त अभिमानके संपूर्ण विसर्जनदेओमाई आमार कर्तव्य। जगदीशबाबूर जन्य ताहाई दिवो।"

रवींद्रनाथ का जी कितना बुझ जाता होगा! वे धनवान् पिता के पुत्र थे, किंतु स्वयं धनवान् नहीं थे—"महाराज आपनाके स्पष्ट कथा बोलि—आमि यदि दुर्भाग्यक्रमे परेर अविवेचनादोषे ऋणजाले आपादमस्तक जड़ित होइया ना शकिन्ना तोबे जगदीशबाबूर जन्य आमि काहातेओ द्वारे दस्तायमान होईताम ना; आमि एकाकी ताँहार समस्त भार ग्रहण करिताम।" यह उनका कहना सत्य ही था। ऋणजाल में आपाद-मस्तक फँसने के कारण ही वे बसु को देय रकम अपनी जेब से नहीं दे पा रहे थे। लेकिन उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि यह 'केवल बंधुत्वेर कार्य' नहीं है, अपितु 'स्वदेशेर कार्य' है। स्वदेश का यह कार्य अधूरा न रह जाए, इसलिए उन्होंने अपना अभिमान-अपमान पूरी तरह विसर्जित कर दिया था। महाराजा के पास याचना करते समय उसमें उनका जरा सा भी स्वार्थ नहीं था।

लेकिन रवींद्रनाथ के ऐसे प्रयासों के चलते भी हाथ में कुछ आया नहीं था। इस कारण यहाँ रवींद्रनाथ अस्वस्थ थे और वहाँ बसु!

व्यक्तिगत जीवन में ऐसी चिंताएँ होते हुए भी जगदीशचंद्र का अनुसंधान-कार्य जोरों से चल रहा था। सन् 1901 के जून तक उनके चार निबंध प्रसिद्ध हुए थे। 'On Binocular Alteration of Vision' यह निबंध लंदन के फिजियोलॉजिकल सोसाइटी ने प्रकाशित किया था तो अप्रैल में रॉयल सोसाइटी ने तीन निबंध प्रकाशित किए—'On the Continuity of Effect of Light and Electric Radiation on Matter'; 'On the Similarities between Mechanical and Radiation Strain'; तथा 'On the Strain Theory of Photographic Action'। ब्रिटिश एसोसिएशन ने भी उनके दो निबंध प्रकाशित किए—'On the Change of conductivity of Metallic Particles under Cyclic Electromotive Variation' तथा 'The conductivity currograph'। 6 जून तक उनके यश का आलेख ऐसे ही चढ़ता रहा।

अपने इस अनुसंधान कार्य से बसु संतुष्ट थे। उन्होंने रवींद्रनाथ को लिखे 11 जुलाई के जिस पत्र का उल्लेख पहले आ चुका है, उसमें आर्थिक विषय के पहले बसु ने इस कार्य के बारे में लिखा है—"रवि, क्या तुम जानते हो कि किसी के पूरे वर्ष तक अनुसंधान करने के बाद उसका एक निबंध रॉयल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ तो वह स्वयं को 'यशस्वी' मानता

है। इस हिसाब से मैंने छह वर्षों का काम मात्र आठ महीनों में पूरा किया है! ...अगर सजीव एवं अजीवों के बीच का एकत्व मुझे प्रस्थापित करना है तो मुझे जिंदगी भर काम करना होगा। पूरा जीवन उसे अर्पित करना होगा।"

यह जो बसु का सारा काम था, वह प्राधानतया पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में था। उन्होंने जो संदेश-ग्राहक पहले बनाया था, उस पर विभिन्न प्रयोग करते समय उन्हें ऐसा दिखाई दिया कि ग्राहक में भिन्न-भिन्न धातुओं के कणों का उपयोग करने पर उसका रोध (resistance) कम या अधिक होता है। इसका कारण है उन धातुओं के अणुओं में होनेवाला परिवर्तन। यह परिवर्तन स्थायी भी हो सकता है और अस्थायी भी। 'आणवीय तनाव' (molecular strain) की मात्रा पर परिवर्तन का स्वरूप एवं कालावधि पर निर्भर होता है। इस तनाव का ज्ञान बिजली की सहायता से किया जा सकता है। बसु के ध्यान में आया कि किसी मूल द्रव्य का परमाणुभार (atomic weight) एवं उसके वैद्युत् गुणधर्म में परस्पर संबंध है।

इस अनुसंधान से ही उन्होंने फोटोग्राफी (photography) के संबंध में एक नया तर्क प्रस्तुत किया। चित्र खींचने के बाद अगर फिल्म का स्थिरीकरण नहीं किया गया तो धीरे-धीरे वह अस्पष्ट होती जाती है। इसके कारणों का स्पष्टीकरण बसु ने ऐसा किया—"चित्र अंकित होना यानी फिल्म पर विलेपित प्रकाश-संवेदी धातु के आणवीय तनाव में वृद्धि; चित्र का अस्पष्ट होना यानी तनाव का क्रमशः ह्रस।"

बसु ने दृश्य प्रकाश के बिना ही प्रकाश चित्र (?) निकालने का यशस्वी प्रयोग किया। विद्युत् प्रवाह के कारण परमाणु को जो उत्तेजना मिलती है, उससे कुछ परमाणु के रेडियोऐक्टिव समस्थानिक (radioactive isotopes) बन जाते हैं। इस अदृश्य रेडियोऐक्टिव का उपयोग करके उन्होंने चित्र खींचे। वनस्पतियों की वृद्धि होते समय तनों में जो वर्तुल तैयार होते हैं, उनके ये चित्र थे। पूर्वोल्लेखित 'कृत्रिम नेत्र' इसी प्रकार का एक उपकरण था। बसु के सन् 1901 में प्रकाशित निबंध इस अनुसंधान पर आधारित थे।

इसके अलावा और एक विषय पर बसु का अनुसंधान जारी था—वह था सेलेनियम। इस द्रव्य की विशेषता यह है कि उस पर गिरनेवाले प्रकाश की तीव्रता के अनुसार उसका रोध बदलता है। इसी सेलेनियम का उपयोग आगे ट्रांजिस्टरों में होने लगा।

सेलेनियम जैसे द्रव्यों के अभ्यास से ही बसु को ऐसा महसूस होने लगा कि अजीव द्रव्यों के बारे में 'दी गई उत्तेजना एवं प्राप्त हुआ प्रतिसाद', इनमें कुछ संबंध है। सजीवों में ऐसा संबंध रहता है। इससे ही बसु इस निष्कर्ष पर आए कि 'सजीव एवं अजीवों में एक प्रकार का वर्तन-साम्य है।' लेकिन ऐसा कुछ कहना उस समय अपरिपक्वता थी। अन्य वैज्ञानिक यह मानने की स्थिति में नहीं थे। अब एक पूरे शतक के बाद रेडार, क्षेपणास्त्र, संगणक, अभियांत्रिकी आदि क्षेत्रों में इतनी प्रगति हुई है कि (संगणक की) 'स्मृति', (कृत्रिम) बुद्धि, प्रतिसाद ऐसी जीव-शास्त्रीय संज्ञाएँ यंत्रों-उपकरणों के संबंध में उपयोजित किए जाने का हमें कुछ लगता नहीं है, किंतु बसु के काल में ये दीवारें अनुल्लंघ्य थीं। बसु ने उन्हें तोड़ने का प्रयास करने से ही वॉलर, बर्डन-सॅडरसन जैसे जीव-शास्त्र के आचार्य बिगड़ गए थे।

लेकिन जो 'द्रष्टा' (visionaries) होते हैं, उनके ललाट पर ऐसे दुःख लेख लिखे ही होते हैं, क्योंकि वे समय से आगे चलते हैं। कई लोगों का ऐसा मानना है कि बसु अगर पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में ही अनुसंधान करते रहते तो अपनी प्रतिभा से क्रांतिकारी कार्य करते। वे जीव-शास्त्र की ओर मुड़े, यह पदार्थ-विज्ञान की हानि ही थी। किंतु बसु ऐसे क्षेत्र में, जो इन दो विज्ञानों की सीमारेखा पर था और अनुसंधान के बाद उन्हें पता चला कि ऐसी सीमारेखा खींचना ही गलत है, इसलिए उसे मिटा देने का प्रयत्न उन्होंने किया। पुराण-मतवादी वैज्ञानिकों को यह विद्रोह मान्य नहीं हुआ और उन्होंने उसे एक गुनाह ही माना।

इस 'गुनाह' की 'सजा' के स्वरूप रॉयल सोसाइटी ने उनका 6 जून का व्याख्यान प्रकाशित करना तो दूर आगे भी बसु का कोई भी निबंध प्रकाशित न करने का निर्णय किया। 'कुछ' जीव-वैज्ञानिकों द्वारा रचा यह 'मौन का षड्यंत्र' (conspiracy of silence) है, ऐसा बसु का मत था। वे जीव वैज्ञानिक राह देख रहे थे कि बसु भारत लौट जाएँ। अवकाश एवं पैसों के अभाव में बसु एक बार सितंबर में भारत लौटे कि वहाँ उनका ही राज था।

लेकिन होनी कुछ अलग थी। बसु के माध्यम से सत्य का आविष्कार हो, ऐसी नियति की इच्छा थी—और वह समय अब समीप आ चुका था।

अपना एकता का सिद्धांत अधिकाधिक सुबूतों के आधार पर कैसे सिद्ध किया जाए, इसका ही निरंतर विचार बसु के मन में था। 25 जुलाई, 1901 को रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में वह कहते हैं—"पिछले दो सप्ताहों में मुझे कुछ नई राहों का दर्शन हुआ है। कोई समुद्री तूफान हमें जोर से खींच ले जाए और उस दौरान नए-नए भू प्रदेश देखने को मिलें, ऐसी मेरी स्थिति है। ...मैं एक पुस्तक लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। वह मेरे सिद्धांत की मात्र प्रस्तावना होगी। अगर सभी प्रयोग पूर्ण हो सके तो मैं एक बड़ा ग्रंथ लिखूँगा।"

इसके पश्चात् बसु का 6 सितंबर का एक पत्र, जिसमें अर्जित छुट्टी होने की बात है और 'पैसों के बारे में जल्दी कुछ लिखना', ऐसी रवींद्रनाथ को विनती।

बसु का अगला पत्र दो महीनों के अंतराल के बाद लिखा हुआ है। 8 नवंबर के इस पत्र में वे बताते हैं—"रवि, हाल ही में मेरा एक भाषण हुआ। विषय वही था—प्राणियों की पेशियाँ, वनस्पति, अजीव, इनकी अखंडता। इससे सुनने एक प्रसिद्ध वनस्पति-वैज्ञानिक उपस्थित था। उसने कहा, 'वनस्पतियों से वैद्युत्-प्रतिसाद मिलना कदापि संभव नहीं है।' इसलिए मैं उन प्रयोगों में व्यस्त हूँ।"

जगदीशचंद्र का यह पत्र मिलने के पहले ही रवींद्रनाथ का 'सुवार्त्ता' बतानेवाला पत्र बसु को रवाना हो चुका था। त्रिपुरा नरेश ने बड़ी रकम देने का प्रस्ताव मान्य करने पर अगरतला से ही रवींद्रनाथ ने तुरंत लिखा—"मैं तुम्हारे काम के लिए ही अगरतला आया था। ...महाराजा तुम्हें एक-दो हफ्तों में 10,000 रुपए भेज रहे हैं। इस वर्ष वह और 10,000 रुपए देने वाले हैं।"

यह समाचार पढ़ते ही जगदीश बाबू कितने तनाव-मुक्त हुए होंगे, उनकी इंग्लैंड में एक वर्ष

रहने की चिंता तो मिट गई। उससे अधिक रहना पड़े तो उनका यह मित्र उनकी सहायता के लिए तत्पर था ही। उस पत्र में वह फिर एक बार लिखता है—"फललाभ करिते तोमार जतई विलंब होउक आमादेर श्रद्धा एवं आंतरिक प्रीती सर्वदाई धैर्य-सहकारे तोमार पार्श्वचर होईया थाकिबो। ...कर्म संपूर्ण करिबार जन्य तूमि यथोचित विलंब करिते पार आमरा ताहारई सहायता करिते प्रस्तुत होईयाछि—आमादेर प्रति सेई आस्था तूमि दृढ राखियो। ...तूमि जाहा करियाछो आमरा ताहार उपयुक्त प्रतिदान किछूई देते पारि ना।"

कितना विशाल हृदय था रवींद्रनाथ का। उस समय के 20,000 रुपए! इतनी बड़ी राशि जगदीशचंद्र को उपलब्ध कर देने पर भी उनके मन में उपकार की भावना जरा-सी भी नहीं थी। उलटा वे कहते हैं कि 'तुम जो कर रहे हो, उसका प्रतिदान हम कितने भी धन से नहीं कर सकते'। अपने दोस्त का—पर्याय में स्वदेश का—कार्य अब बिना रुकावट के चलता रह सकेगा, इसका भरपूर आनंद रवींद्रनाथ को है।

जगदीशचंद्र एवं रवींद्रनाथ की यह मैत्री देखकर भर्तृहरि व नीतिशतक के एक श्लोक 'दुग्ध-जल-मैत्री' का जो वर्णन किया है, उसकी याद आती है—"दूध में पानी मिलाया गया, तब दूध ने अपने सारे गुण एवं रंग तक उसको दे दिए। ऐसा दूध जब आग पर रखा गया तब जिसने हमें सर्वस्व दे दिया, ऐसा दूध अपने कारण खतरे में है, ऐसा देखकर पानी ने अपना बलिदान करना प्रारंभ किया; लेकिन अपने दोस्त का नाश हो रहा है, ऐसा देखकर अंततः दूध आग में कूद पड़ा। उसे आग में जाते देखकर गृहिणी ने जब उस पर पानी फेंका, तब मित्र के फिर मिलने पर दूध शांत हो गया।" जगदीश पर आया संकट स्वयं पर ही आया है, ऐसा माननेवाले रवींद्रनाथ को देखकर भर्तृहरि का यह रूपक सार्थक लगता है।

और सबसे महत्त्व की बात यह है कि यह रकम 'दान' है, ऋण नहीं, ऐसा त्रिपुरा नरेश ने भी माना था। "महाराजेर संबंधी एटूकू निश्चय जानियो ः निजि तुमाके ऋणी करिबार जन्य अर्थसाहाय्य करेब नाई; तिनि तोमार ऋण प्रतिशोध करितेछेन।" यह धन जगदीशचंद्र के ऋण से मुक्त होने का प्रयास है, ऐसी 'आनृण्य' की भावना उस नरेश के मन में भी थी।

आर्थिक विवेचना से बाहर आने से जगदीशचंद्र का हौसला बढ़ा। पूरी लगन के साथ वे काम में जुट गए। अधिकतम समय प्रयोगशाला में व्यतीत करने लगे।

एक दिन उनकी प्रयोगशाला में प्रो. व्हाइंस एवं प्रो. हॉवज् की जोड़ी आई। प्रो. व्हाइंस बसु के अध्यापक रहे थे। वह जीव-शास्त्रज्ञ थे। वनस्पतियों के शरीर-रचना-शास्त्र का उनका व्यासंग था। जीव-शास्त्र विषयक संस्था लिनियन सोसाइटी के वे क्रमशः अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष थे। बसु के प्रयोग देखकर वे दोनों अत्यंत प्रभावित हुए। प्रो. व्हाइंस ने बसु को तत्काल लिनियन सोसाइटी में व्याख्यान का निमंत्रण किया। रॉयल सोसाइटी द्वारा दबा रखा निबंध वे उनकी सोसाइटी के सामने प्रस्तुत करें एवं सप्रयोग भाषण करें, ऐसा प्रस्ताव उन्होंने रखा।

21 मार्च, 1902 को हुए इस व्याख्यान के लिए शरीर-शास्त्रज्ञ, जीव-शास्त्र तथा अन्य

विद्याशाखाओं के शास्त्रज्ञ उपस्थित थे। 15 मिनट में ही बसु को लगा कि वे विरोधियों पर मात करके विजयी हो रहे हैं। बीच-बीच में 'वाह, वाह!' की घोषणा सुनाई दे रही थी। व्याख्यान समाप्त होने पर अध्यक्ष ने श्रोताओं से स्पष्ट पूछा, "किसी को कुछ कहना है? कोई इस प्रतिपादन का विरोध करना चाहता है?" तीन बार पूछने पर भी कोई खड़ा नहीं हुआ। प्रो. हार्टोग ने कुछ देर बाद कहा, "आपके इस कार्य के लिए हमारे पास स्तुति के सिवा और कुछ नहीं है।" फिर अध्यक्ष ने भी बसु की स्तुति की।

घर वापस लौटने पर उसी उत्तेजित अवस्था में बसु ने रवींद्रनाथ को पत्र लिखा—"उस संग्राम में मैं आखिर यशस्वी होकर ही रहा। विजय प्राप्त करके मैं अभी-अभी घर लौटा हूँ। यह खबर पढ़कर तुम भी हर्षित हो जाओगे। कृपया महाराज को भी यह समाचार बताना। अगर तुमने मेरे यहाँ रहने का प्रबंध न किया होता तो यह दिन आता ही नहीं। मैं अपयश का भागी होकर ही भारत वापस लौटता।"

कुछ दिन बाद बसु के पास प्रो. व्हाइंस का एक पत्र आया, जिसमें उन्होंने कहा था —"आपके प्रयोगों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि वनस्पति के सभी भाग न केवल जो हिल सकते हैं, वह उत्तेजनाक्षम हैं तथा दी गई उत्तेजना व वैद्युत् प्रतिसाद देकर ये भाग अपनी संवेदन-क्षमता प्रदर्शित करते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण अगला कदम है। उत्तेजनाक्षम होने हेतु किस तरह की आणविक स्थिति आवश्यक होती है तथा उत्तेजना से किस प्रकार के आणविक परिवर्तन होते हैं, उनका स्वरूप कैसे होता है आदि भावी अनुसंधान कार्य का यह पहला कदम होगा। मैं आशा करता हूँ कि इसमें से ही हमें सजीव एवं अजीव पदार्थों के सामान्य गुणधर्मों के बारे में बहुत कुछ ज्ञान मिलने वाला है।" बसु के कार्य का महत्त्व एवं मौलिकता इतनी स्पष्टता से जाननेवाले बहुत कम वैज्ञानिक उस समय होते होंगे।

अगले महीने बसु पेरिस गए। तीन स्थानों पर उनके व्याख्यान हुए। उनके प्रयोग एवं निष्कर्ष सभी जगह स्वीकृत हुए। बसु को जर्मनी से भी आमंत्रण थे; किंतु समय के अभाव के कारण वे उन्हें स्वीकार नहीं कर पाए। पेरिस की 'सोसाइटी द फिजिक्' ने उनके व्याख्यान निबंधों के रूप में प्रकाशित भी किए। इस सोसाइटी के 'विधि सभा सदस्य' के रूप में भी सन् 1902-04 में इन तीन वर्षों के लिए वे चुने गए।

वापस आकर बसु अपने कार्य में जुट गए, तब विरोधियों ने उन्हें और एक धक्का दिया। 21 मार्च को लिनियन सोसाइटी में उनका जो व्याख्यान हुआ था वह प्रकाशित करने का समय जब आया, तब प्रो. वॉलर एवं उनके गुट ने प्राथमिकता का मुद्दा उपस्थित किया। उनका कहना था कि प्रो. वॉलर ने कई माह पहले नवंबर 1901 में से एक वैज्ञानिक जर्नल में इन प्रयोगों के निष्कर्ष प्रकाशित किए हैं, अतः बसु का अनुसंधान पुनरावृत्ति है।

यह सब खलबली मची लिनियन सोसाइटी के प्रकाशन-समिति की एक बैठक में। ऐसी समितियों द्वारा प्रकाशन हेतु निबंध स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाना यह एक विशेष 'ब्रिटिश' पद्धति है। फ्रांसीसी अकादमी अपने पास आए सभी निबंध प्रकाशित करती है—उसका प्रतिपादन, सत्यता, इनका दायित्व अनुसंधानकर्ता पर रहता है। कोई उसे 'जाँच'

रहा है, 'स्वीकृत' कर रहा है, ऐसा कुछ नहीं रहता। इसके विपरीत, रॉयल सोसाइटी जैसी संस्थाओं में प्रकाशन समितियाँ होती हैं। वे निबंध जाँचती हैं, उस पर मत या टिप्पणी लेती हैं। इन दोनों पद्धतियों में लाभ भी हैं तथा कमियाँ भी। फ्रांसीसी पद्धति स्वतंत्रता, लोकशाही आदि तत्त्वों पर आधारित है। ब्रिटिश पद्धति 'अधिकार' (authority) पर आधारित है। इससे निबंध की गुणवत्ता की निश्चितता होती है, किंतु केवल 'तथ्य अमान्य हैं' इस कारण मौलिक, नया अनुसंधान भी नकारा, दबाया जा सकता है। बसु का कार्य दबा देने हेतु इसी का लाभ सन् 1901 में बर्डन-सॅडरसन ने उठाया और 1902 में वॉलर ने भी वही किया।

अब प्रश्न खड़ा हुआ अनुसंधान-चोरी का! चोरी किसने की—बसु ने या वॉलर ने? बसु ने लिनियन सोसाइटी से एक समिति का गठन करने की माँग की। वॉलर की टोली का अंदाजा था कि रॉयल सोसाइटी वाला बसु का जून 1901 का व्याख्यान प्रकाशित न होने के कारण बसु के पास कोई सुबूत ही नहीं है; लेकिन दुर्भाग्य से उनके विरोध में कई सुबूत मिले। 10 मई का बसु का 'रॉयल इंस्टीट्यूशन' में किया व्याख्यान प्रकाशनाधीन था, जिसमें इस विषय पर ऊहापोह था। दूसरे ऐसा हुआ कि प्रो. व्हाइंस एवं प्रो. हॉवज् दोनों रॉयल सोसाइटी के भी फैलो थे। उन्होंने 6 जून के बसु के व्याख्यान की मुद्रित प्रति स्वयं देखी थी, किंतु मुद्रित रूप में इस निबंध का प्रकाशन न करने का निर्णय सोसाइटी ने किया था। जब ये सारे सुबूत जाँच समिति के सामने रखे गए, तब सबको मालूम पड़ा कि प्रो. वॉलर ही चोर हैं। 6 जून की सभा में उन्होंने बसु का अनुसंधान अमान्य करके उनकी आलोचना तो की, किंतु नवंबर में वही निष्कर्ष अपने नाम पर एक वैज्ञानिक पत्रिका में प्रकाशित भी किए। और फिर मई 1902 में जब लिनियन सोसाइटी बसु का कार्य प्रकाशित करने चली, तब 'बसु ने अनुसंधान-चोरी किया है' ऐसा, दुष्प्रचार किया।

अपने 8 मई, 1902 को लिखे पत्र में बसु ने रवींद्रनाथ को यह पूरा इतिहास बताया है। उसी पत्र में वे आगे प्रो. व्हाइंस से आए पत्र के दो वाक्य उद्धृत करते हैं—"आपको ऐसी कई अचंभित करनेवाली बातें ज्ञात नहीं हैं। आपको अंत में न्याय मिला इसका मुझे हर्ष है।"

सोसाइटी के सचिव प्रो. हॉवज् ने बसु को एक सांत्वना वाला पत्र लिखा—"ऐसे आरोप आप पर लगाना सीधा सधा अन्याय है।" ऐसा उन्होंने कहा। इसका उत्तर देते हुए बसु ने 'जो हुआ, सो हुआ ः अब यह सब भूल जाएँगे' ऐसा लिखा। यह पढ़कर प्रो. हॉवज् एकदम गरम हो गए। सात्त्विक संताप से उन्होंने बसु को लिखा—"आपकी नीति मेरी समझ के बाहर है। ऐसे प्रसंगों में सौजन्यता दिखाना गलत है। आप एक चोर को बचा रहे हैं; लेकिन मेरे शब्द याद रखें, आपने अभी उनको बचाया तो भी वे जल्द आपसे फिर शत्रुता करेंगे।"

प्रो. हॉव्ज का कहना बिलकुल सही उतरा! उसका वर्णन यथास्थान आएगा ही।

बसु के बारे में हुई इस घटना से ऐसी ही संतप्त हो उठीं भगिनी निवेदिता। बसु के 10 मई के व्याख्यान के लिए वे उपस्थित थीं, लेकिन किसी शांत स्थान पर जाकर आराम एवं लेखन करने हेतु वे श्रीमती सारा बुल के निमंत्रण पर नार्वे गई थीं। सितंबर में वहाँ से लौटने पर

जब सभी घटनाएँ उन्हें ज्ञात हुईं, तब बसु के हुए अपमान के अनुभव से वह क्रुद्ध हुईं। इस एकाकी वैज्ञानिक को कुचलने के लिए एकत्र हुए ब्रिटेन के वैज्ञानिकों को देखकर उनके मन में अपने राष्ट्र के प्रति खेद जागा। उन्होंने कहा, "बसु-युद्ध के प्रसंग में जिस हीन मानसिकता का प्रदर्शन हुआ, उससे इस राष्ट्र का व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक अधःपतन ही सूचित होता है। अगर बसु इस देश के होते तो कितना अधिक कार्य कर पाते! अंततः वह वे करके ही रहे; किंतु इंग्लैंड देश! इस देश में जो भी कुछ उदात्त था, वह नष्ट हुआ-सा लगता है।"

बसु के सरलपन, उदार भाव एवं विश्व-कल्याण के लिए अनुसंधान कार्य करने की उदात्त भूमिका का अनुचित लाभ उठाया जा रहा है; आगे भी ऐसा ही होने वाला है, यह भगिनी निवेदिता जान चुकी थीं। इसलिए वे एवं सारा बुल बसु के पीछे पड़ीं कि, 'कृत्रिम दृष्टि-पटल' के स्वामित्वाधिकार में अपने नाम दर्ज करवा लें। "आज आपका अनुसंधान दूसरे किसी ने उसके नाम से प्रसिद्ध किया। कल यह उपकरण भी कोई 'अपनी खोज' करके बताने लगेगा—मुनाफा कमाने लगेगा।" ऐसा चेतावनी उन्होंने बसु को दी। बेतार संदेशवहन के क्षेत्र में स्वामित्वाधिकार लेने की होड़ उस समय आरंभ भी हो चुकी थी। मार्कोनी ने दो अधिकार अपने नाम दर्ज भी किए थे।* सर ऑलिकृत लॉज एवं म्युइरहेड ने मिलकर कुछ स्वामित्वाधिकारों के लिए आवेदन भी किया था। ऐसी स्थिति में इस अद्वितीय उपकरण की खोज बसु के नाम पर ही दर्ज होनी चाहिए, ऐसा निवेदिता एवं सारा बुल का आग्रह था। उनको नकारना बसु के लिए असंभव हो गया। लेकिन, 'अपने अनुसंधान का पैसा कमाने हेतु उपयोग करने के लिए' बसु का इनकार था। उनकी यह भूमिका भी उन दो भगिनिओं को मान्य थी, क्योंकि वे भी विश्वकल्याण हेतु कार्य करने के लिए पैदा हुई थी ः स्वामी विवेकानंद की शिष्या थीं। तो इससे एक मध्यस्थ मार्ग ऐसा निकला कि बसु स्वामित्वाधिकार का उपयोग पैसा कमाने हेतु न भी करें, वे स्वामित्वाधिकार तो दर्ज करवा लें। "विज्ञान के क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण खोज बसु के नाम पर होनी चाहिए और उस हेतु स्वामित्वाधिकार लेने जैसा और कोई सुबूत नहीं है।" ऐसा उन दोनों का कहना था।

काफी बहस के बाद बसु ने, अनिच्छा से ही, उनका यह कहना माना और सितंबर 1901 में अमेरिका में स्वामित्वाधिकार के लिए आवेदन किया। यथासमय मार्च 1904 में उसे अमेरिकी प्रशासन ने मान्यता दी। फिर, जैसा पहले से ही तय था, बसु ने अपनी यह खोज उपयोग के लिए खुली कर दी!

—वह आदमी ही कुछ अलग था। वह एक ऋषि था। प्राचीन भारतीय परंपरा का वह वारिस था। वर्ष 1917 में अपनी अनुसंधान संस्था के उद्घाटन के कार्यक्रम में भी उस महामानव ने अपनी यही भूमिका उद्घोषित की, "...इस संस्था में जो अनुसंधान होगा, वह प्रतिवर्ष प्रकाशित किया जाएगा। पूरी दुनिया को उसकी जानकारी दी जाएगी। यह अनुसंधान सार्वजनिक संपत्ति होगी। किसी भी खोज के स्वामित्वाधिकार नहीं लिये जाएँगे। ज्ञान का उपयोग निजी लाभ हेतु करना स्खलन है, और उससे हमें बचना चाहिए। यही अपने राष्ट्र की संस्कृति है। वह भाव हमें जानना चाहिए, आचरण में लाना चाहिए।"

इसी भाव से बसु ने अपना पूरा अनुसंधान कार्य 'इदं न मम्' कहकर 'जगतेर कल्याण

कामनार' समर्पित किया।

'रॉयल सोसायटी' घटना के बाद 25 जुलाई, 1901 को रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में बसु ने ग्रंथ के लेखन का अपना मनोभाव व्यक्त किया था। कुछ ही महीनों में इस इच्छा का साकार रूप में निश्चय हुआ। बसु ने तय किया कि अपने निष्कर्षों का तथ्यों द्वारा स्वीकार या पुष्टि होने तक या अनुसंधान-संस्थाओं द्वारा उनका प्रकाशन होने तक रुका नहीं जा सकता; क्योंकि इसका होना या न होना दूसरों के हाथ में है। उसमें कई कठिनाइयाँ, कूटनीतियाँ हैं। इससे यह आसान है कि अनुसंधान एवं प्रयोगों पर आधारित पुस्तक निजी तौर पर प्रकाशित हो। इस दृष्टि से बसु ने अपने पहले ग्रंथ का लेखन आरंभ भी किया। "ग्रंथ लेखन के बारे में पहले-पहले मैं आलसी ही था; लेकिन परिस्थिति ने मुझे उस लेखन पर मजबूर कर दिया।" उन्होंने बाद में कहा था।

सन् 1902 के मध्य तक ग्रंथ का प्रकाशन हो, ऐसी बसु की इच्छा थी। संपादन के काम में भगिनी निवेदिता उनका साथ दे रही थीं। एक ओर उनका लेखन चल रहा था तथा दूसरी ओर प्रतिपादन निर्दोष होने के लिए नए-नए प्रयोग भी कर रहे थे। उनका प्रयास था वनस्पतियों द्वारा यांत्रिक उत्तेजनाओं को मिलनेवाले वैद्युत् प्रतिसाद का स्वरूप निश्चित करने का। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि यह प्रतिसाद सजीवों के स्नायुओं के प्रतिसाद जैसा ही होता है। यांत्रिक उत्तेजना देने पर स्नायु का आकुंचन होता है। यह आकुंचन दृश्यमान होता है, इसलिए उसे 'यांत्रिक प्रतिसाद' कहा जाता है। लेकिन अगर किसी स्नायु (nerve) को यांत्रिक उत्तेजना दी गई तो वह तंतु दृश्यमान यांत्रिक प्रतिसाद नहीं देता। ऐसी स्थिति में उसका 'वैद्युत् प्रतिसाद' नापना पड़ता है। यांत्रिक एवं वैद्युत् प्रतिसादों में पूर्ण साम्य रहता है, फिर यांत्रिक प्रतिसाद का नापन क्यों करें, मात्र वैद्युत् प्रतिसाद के नापन से ही काम चलेगा। वह एक सामान्य कसौटी बनता है।

वनस्पतियाँ भी इन दोनों तरीकों के प्रतिसाद देती हैं। छुई-मुई को उँगली से स्पर्श करने पर उसकी पत्तियाँ सिमट जाती हैं। अगर स्पर्श जोर से किया तो एक से अधिक पत्तियाँ या पूरी शाखा मुरझा जाती है। यह हुआ वनस्पति का यांत्रिक प्रतिसाद, लेकिन सभी वनस्पतियाँ ऐसा यांत्रिक प्रतिसाद नहीं देतीं। फिर उनका प्रतिसाद कैसे नापा जाए? बसु ने उनका वैद्युत् प्रतिसाद नापने का प्रयास किया और वे सफल भी रहे! बर्डन-सॅडरसन तथा मंक जैसे वैज्ञानिक केवल छुईमुई जैसी तीव्र संवेदनशीलतावाली वनस्पतियों का वैद्युत् प्रतिसाद नापने में ही सफल हुए थे। लेकिन बसु अपने उपकरणों द्वारा अन्य कई वनस्पतियों का वैद्युत् प्रतिसाद भी नाप सके। लेकिन इसके लिए बसु को बधाई देने के बजाय अहंकार एवं ईर्ष्यावश होकर बर्डन-सॅडरसन ने 'it cannot be', ऐसी दर्पोक्ति करके बसु के प्रयास को कुचल दिया था!

ऐसे प्रयोग करते-करते बसु और भी आगे चल पड़े। अब वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि वनस्पतियों द्वारा मिलनेवाले न केवल यांत्रिक या वैद्युत् प्रतिसाद, बल्कि शरीर-शास्त्रीय (Physiological) प्रतिसाद भी प्राणी जैसे ही होते हैं। इसके लिए प्राणियों के संबंध में—

विष, सम्मोहक द्रव्य, उच्च तापमान आदि के जैविक क्रियाओं पर होनेवाले परिणामों का नापन किया है। इन उत्तेजनाओं के परिणामस्वरूप जैविक क्रियाएँ मंद या बंद हो जाती हैं। बसु ने वनस्पतियों को क्लोरोफॉर्म सुँघाया, मर्क्युरिक क्लोराइड या विष पिलाया तथा उन्हें उच्च तापमान में रखा। तीनों समय विभिन्न वनस्पतियों ने जिस तरह का वैद्युत् प्रतिसाद दिया, वह बिलकुल प्राणियों के प्रतिसाद जैसा ही था।

एक व्याख्यान के दौरान बसु यह प्रयोग श्रोताओं के सामने प्रस्तुत कर रहे थे। विष देने पर वनस्पति मर जाती है, यह दिखाने के लिए उन्होंने एक पौधे को विष का इंजेक्शन दिया। 'अब वह मर जाएगा!' लेकिन काफी समय बीतने पर भी ऐसा कुछ हुआ नहीं। फजीहत होने पर सब बसु पर हँसने लगे। लेकिन बसु शांत थे। कुछ क्षण सोचकर उन्होंने कहा, "अगर विष के कारण इस पौधे को कुछ नहीं हुआ है तो इसे पीने से मुझे भी कुछ नहीं होना चाहिए ः मैं इसे पी लेता हूँ!" यह सुनते ही एक व्यक्ति खड़ा हुआ और उसने कहा, "नहीं, नहीं! मुझे माफ करना, मैंने ही विष की जगह रंगीन पानी की बोतल रखी है!" फिर बसु ने असली विष के साथ प्रयोग किया—अपेक्षा के अनुसार पौधा कुम्हला गया।

बसु के ऐसे प्रयोग चल रहे थे। निष्कर्षों की जाँच व विश्लेषण जारी था। जून 1902 में ग्रंथ का लेखन पूर्ण हुआ।

इतने में 4 जुलाई, 1902 को स्वामी विवेकानंद का देहांत हुआ। बसु दंपती दुःख से व्याकुल हो गया। वह महामानव उनका मित्र था। उनका प्रत्यक्ष सान्निध्य अल्पकालीन ही था—सन् 1900 की पेरिस परिषद् के समय का। लेकिन उस समय से उनकी मित्रता दृढ़ रही थी। स्वामीजी मानो उनके परिवार के एक सदस्य ही बन गए थे। अबला दी उनके लिए 'माछेर झोल' बनातीं। लंबे समय तक बातें चलती रहतीं।

मात्र 39 वर्ष की अल्प आयु में ही उस महामानव ने देह-त्याग कर दिया था। 9 जुलाई को कलकत्ता भेजे गए एक पत्र में बसु ने अपनी भावनाओं को प्रवाहित कर दिया—"एक रिक्तता पैदा हुई है। कितने कम समय में कितना विशाल कार्य हो गया! एक व्यक्ति ने कैसे किया होगा यह सब! किंतु, यह भी उचित है कि जब कोई थक जाता है, तब वह विश्राम करे। दो वर्ष पहले मैंने उन्हें पेरिस में जैसा देखा वैसा ही आज भी देखता हूँ, एक दृढ़ व्यक्ति! उनका सबकुछ प्रचंड था। सभी ओर एक दुःख-सा छाया हुआ है। हमें उसके पार जाना ही होगा। इस घटना से दुःखी आप सभी भारतवासियों की भावना से हम भी एक रूप हैं।"

ऐसे दुःखों को पीछे छोड़कर मनुष्य को फिर सांसारिक कर्मों में लगना पड़ता है। बसु भी फिर ग्रंथ-प्रकाशन के कार्य में लग गए। 18 जुलाई को

वे रवींद्रनाथ को लिखते हैं—"अब ग्रंथ के अंतिम प्रूफ देख रहा हूँ। लगभग एक महीने में वह छप जाएगा।...ग्रंथ की अर्पण-पत्रिका में मैं ऐसा लिखना चाहता था—

'To my country men,

Who will yet claim the intellectual heritage

of their ancestors.'

लेकिन ऐसा स्पष्ट मैं लिख नहीं पाया। मेरे यह हृदयगत मौन ही रहे।"

'Response in the Living and Non-Living' अक्तूबर 1902 में प्रकाशित हुआ। उसी महीने में 'Review of Reviews' पत्रिका में बसु के कार्य का विस्तृत ब्योरा देनेवाला भगिनी निवेदिता का लेख प्रकाशित हुआ। पत्रिका के संपादक विलियम स्टीड के आमंत्रण पर निवेदिता ने वह लिखा था। बसु का अनुसंधान कार्य, उसका प्रतिपादन—तत्त्वज्ञान ऐसे सभी मुद्दों पर निवेदिता ने अत्यंत सरल एवं प्रवाहयुक्त भाषा में लिखा।

इसी दौरान रॉयल सोसायटी ने बसु पर लगाई पाबंदी वापस ले ली थी। उनके पहले के एवं भविष्यकालीन सभी निबंध वह प्रकाशित करने वाला था।

जगदीशचंद्र के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण कालखंड—संघर्ष का कालखंड—समाप्त हुआ था।

उनके अवकाश का काल भी समाप्त हो रहा था। ब्रिटिश एसोसिएशन, बोटैनिकल सोसाइटी, रॉयल फोटोग्राफिक सोसाइटी आदि अनेक संस्थाओं ने उनके व्याख्यान आयोजित किए। जर्मनी के बॉन विश्वविद्यालय एवं इन फ्रेंच फिजिकल सोसाइटी ने भी उन्हें व्याख्यानों के लिए आमंत्रित किया।

पेरिस-परिषद् के लिए बसु यूरोप गए। वे अब पश्चिमी वैज्ञानिकों की ओर से स्वीकृत किए गए थे, मात्र किए गए थे। विरोधियों का मुँह बंद हो गया था। संघर्ष में विजयी रहे बसु 11 अक्तूबर, 1902 को कलकत्ता वापस पधारे।

8

सन् 1903 से जगदीशचंद्र के जीवन के एक नए पर्व का आरंभ होता है। भौतिक-शास्त्र एवं जीव-शास्त्र इनकी सीमारेखा पर अनुसंधान कार्य करनेवाले बसु अब अजीव-वनस्पति-सजीव—ऐसी एक अविखंडित संलग्नता सुबूतों के आधार पर सिद्ध करने के विचार में हैं; और इस दृष्टि से अगला पूरा अनुसंधान कार्य 'वनस्पति' विषय पर करने का उन्होंने तय किया है। 'पादपकार्यिकी (Plant Physiology) के आद्य संशोधक' विशेषण से वे जो आज जाने जाते हैं, उस कार्य के लिए जीवन समर्पित करने का उनका निश्चय लगभग इस काल का है।

सन् 1903 के पहले दिन ही—1 जनवरी को—सरकार ने उन्हें C.I.E. (Commander of the Indian Empire) की उपाधि से सम्मानित किया। "अब मुझे एक पूँछ लगी है।" बसु ने रवींद्रनाथ को लिखा!

इसके तुरंत बाद ही 'भारत संगीत समाज' ने अपनी यशप्राप्ति के लिए बसु को सम्मानित करने का निश्चय किया। कलकत्ता में 2 फरवरी को यह समारोह हुआ। अध्यक्षता की कूच बिहार के महाराजा ने। इस कार्यक्रम में रवींद्रनाथ तो उपस्थित थे ही, उन्होंने बसु की जय-जयकार करनेवाला एक गीत भी इस समय प्रस्तुत किया—

जय तब होक जय।

स्वदेश गले दाओ तूमि तुले

यशोमाला अक्षय!

बहुदिन होते भारत बाण

आछिलो नीरबे अपमान मानी

तूमि तारे आजि जागाये तुलिया

रटोले विश्वमय।

ग्यानमंदिर ज्वालायेछो तूमि

जे नव आलोक शिरग,

तोमार सकल भ्रातार ललाटे

दिलो उज्ज्वल टीका।

अवारित गति तव जयरथ

फिर जेनो आजि सकल जगत्

दुःख-दीनता जा आछे मोदेर

तोमारे बाँधिना रोय!

रवींद्रनाथ ने इसी काल में निवेदिता को पत्र लिखकर बसु के कार्य के बारे में एवं जिन कठिनाइयों का सामना करते हुए उन्होंने वह कार्य किया, उसके बारे में भी विस्तार से लिखने को कहा। यह जानकारी रवींद्रनाथ किस हेतु चाहते थे, यह मालूम नहीं पड़ता। निवेदिता ने अपने लेखन के प्रारंभ में ही, "यह जानकारी आप तक ही सीमित रहेगी, इस विश्वास के साथ मैं कुछ नामों का उल्लेख करूँगी।" ऐसा लिखा है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी पत्रिका में यह लेख मुद्रित नहीं होने वाला था। कारण कुछ भी हो, निवेदिता के इस लेखन से बसु के तब तक के कार्य की एक अन्य समालोचना हमें पढ़ने के लिए मिलती है। और निवेदिता द्वारा लिखी जाने से वह रुक्ष न होकर भावालिप्त है। बसु के प्रति आदर, प्यार, उनके विरोधियों के प्रति क्रोध, भारत में बसु का सही सम्मान हो, ऐसी कामना भरी हुई है—

"...1898 के अंत में मेरा और उनका परिचय हुआ। एक महान् अनुसंधान-कर्ता के मार्ग में क्षुद्र कठिनाइयाँ एवं रुकावटें डालकर उसका कैसा छल किया जाता है, यह देखकर मैं लगभग ध्वस्त हो गई। उनका कार्य स्वतंत्रता एवं शांति के बिना चलते रहना असंभव था; लेकिन इनके न रहते हुए भी उन्होंने उसे निष्ठा से जारी रखा और अंततः वे यशस्वी रहे। ऐसे एक वैज्ञानिक के लिए अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी या फ्रांस ने चाहे जितना पैसा खर्च किया होता, किंतु यहाँ यह वैज्ञानिक एकाकी लड़ रहा था।"

...ऐसी स्थिति में भी वे रॉयल सोसाइटी को प्रतिवर्ष दो या तीन निबंध भेज रहे थे। (जब दो वर्षों में एक निबंध प्रकाशित होना भी सराहनीय माना जाता है!) उनका हरेक अनुसंधान, हरेक खोज नवीनतापूर्ण, बिना गलती की एवं परिपूर्ण थी। लॉर्ड रेले एवं विलियम क्रुक्स ने कहा कि "बसु के प्रयोगों के निष्कर्ष यद्यपि संशयहीन हैं, उनके सन् 1895-96 के प्रयोग 1901 तक अन्य कोई न कर पाया था, न जाँच पाया था।"

...लंदन में मुझे एक बार डॉ. गार्नेट मिले। विएना के विज्ञान कॉलेज को भेंट देकर वे लौटे थे। उसकी भव्यता देखकर उन्होंने सहज ही कहा, "इसके निर्माण में कितना धन लगा

होगा?" साथ में चलनेवाले ऑस्ट्रिया के शासकीय प्रतिनिधि ने उन्हे तुरंत उत्तर दिया, "इस संस्था से अगर एक भी महान् वैज्ञानिक पैदा हुआ तो भी यह पूरा पैसा वसूल हुआ। ऐसा कहा जा सकता है!" हममें से कितनों को ऐसा लगता है?

"...हे भारत! अपने एक महान् सपूत को अनुसंधान के लिए तुम पूरा स्वातंत्र्य नहीं दे सकते हो? विश्व की रणभूमि पर लड़ने के लिए उसकी शस्त्र-सज्जा करके, आशीर्वाद देकर नहीं भेज सकते हो?"

भगिनी निवेदिता का यह पत्र 18 अप्रैल, 1903 का है। उसके आगे के काल में उनकी इच्छाएँ कुछ अंश तक पूरी हुईं, यह हम सबका सौभाग्य है।

जिस अनुसंधान कार्य के प्रति बसु ने स्वयं को समर्पित कर दिया वह वनस्पतियों के संबंध में था। विभिन्न उत्तेजनाओं को वनस्पतियों द्वारा मिलनेवाले प्रतिसादों के आधार पर वे अजीव-वनस्पति-सजीव ऐसी एक अखंडता सिद्ध करना चाहते थे। वनस्पतियाँ फेफड़ों के बिना श्वसन करती हैं, जठर के बिना अन्न-पाचन एवं स्नायुओं के बिना हलचल करती हैं। फिर, क्या वे तांत्रिक तंत्र के बिना उत्तेजित भी हो सकती हैं? यह जानने हेतु बसु कहते हैं, "पहले उन पर विभिन्न प्रकारों के आघात करने पड़ेंगे, फिर इनके प्रतिसाद स्वरूप वे जो परिवर्तन दर्शाएँगी उन्हें आरेखित करने की योजना करनी पड़ेगी और अंततः उनका इस लिपि को समझकर उसका अर्थ हमें निश्चित करना पड़ेगा।" इस एक वाक्य में बसु के भावी अनुसंधान-कार्य का पूरा सार समाया हुआ है। आगे के 2-3 दशक बसु का इसी विषय में अनुसंधान चलता रहा—पहले अकेले ही और बाद में अपनी अनुसंधान-संस्था में सहकारी एवं विद्यार्थियों के साथ में। 'यांत्रिक एवं वैद्युत् प्रतिसाद के आधार पर अजीव पदार्थ, वनस्पतियाँ तथा सजीव प्राणी इनके बीच की विभाजक रेखाएँ मिटाकर, पूरे वस्तु जगत् का एकल वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्थापित करना' यह अपना जीवंत कार्य जगदीश दा ने सुनिश्चित किया था, और अंत तक वे उसमें ही लगे रहे।

जिन वनस्पतियों पर बसु ने काम किया, उनमें से कुछ विशेष थीं—जैसे छुईमुई ('मिमोसा प्युडिका'), 'डेस्मोडियम गायरेंस' तथा 'ब्रायोफायटम सेंसिटिवम्' आदि; तो कुछ बिलकुल सामान्य थीं, जैसे बाजार से लाई सब्जियाँ। इन वनस्पतियों को उन्होंने चार प्रकार की उत्तेजनाएँ दीं—(1) यांत्रिक : घर्षण, तोड़ना, मरोड़ना, आदि; (2) रासायनिक : विष एवं सम्मोहक द्रव्यों का प्रयोग, (3) औष्णिक : तप्त वस्तु से स्पर्श कराना, तथा (4) वैद्युत् : बिजली का झटका देना। इस प्रकार की उत्तेजनाओं से न केवल छुईमुई, अपितु सभी वनस्पतियाँ प्रतिसाद देती हैं, ऐसा बसु ने जाना। सभी तरह के प्रतिसाद वनस्पति स्वयं दर्ज करें, इस हेतु उन्होंने विभिन्न उपकरण तैयार किए।

इन उपकरणों द्वारा दर्ज किए निष्कर्ष बसु रॉयल सोसाइटी को निबंधों के रूप में भेजते रहे। लेकिन ये निष्कर्ष इतने आश्चर्यपूर्ण एवं क्रांतिकारी थे कि अधिक सुबूतों के बिना उन्हें स्वीकृत करना सोसाइटी के लिए असंभव बनता गया। लेकिन बसु ने बताया—कृति के

अनुसार प्रयोग करना भी असंभव था; क्योंकि इतने सुंदर, संवेदनशील एवं अचूक उपकरण पूरी दुनिया में अन्य किसी के पास थे ही नहीं! इस स्थिति में सोसाइटी मात्र यह ही कर सकती थी : यह अनुसंधान प्रकाशित न करना! 'प्रचलित मतों से भिन्न होनेवाले इन सुबूतों की अधिक पुष्टि होने की आवश्यकता है', ऐसा कारण देकर सोसाइटी ने बसु का लेखन संग्रहालय में रखना आरंभ किया—बसु के भारत लौटने पर अब वहाँ उनके विरोधियों का ही राज था!

क्या था बसु का वह अनोखा अनुसंधान? गहराई में न जाते हुए हम उसका विहंगम दर्शन ही करेंगे!

छुईमुई को सभी जानते हैं। उँगली से स्पर्श करने पर उसके पत्ते बंद हो जाते हैं। बच्चों का यह एक मन लुभानेवाला खेल होता है। शाम को अँधेरा छा जाने पर भी पत्ते ऐसे ही बंद हो जाते हैं और सुबह फिर खुल जाते हैं। दृश्य प्रतिसाद देनेवाली ये क्रियाएँ कैसी घटना हैं? जिसे हम तांत्रिक तंत्र (nervous system) कहते हैं, उस तरीके की कुछ यंत्रणा वनस्पतियों में भी होने का यह निदर्शक है। बसु ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा यह दिखा दिया। छुईमुई के पत्ते आमने-सामने होनेवाले छोटे-छोटे पत्तों की एक माला-सी होती है, जिसे पर्णिका कहा जाता है। पूरी पर्णिका एक ही ठूँठ से शाखा से जुड़ी रहती है। बसु ने देखा कि अगर शाखा को बिजली का झटका दिया या उष्ण वस्तु से स्पर्श किया तो कुछ सेकंडों में सबसे निकट पर्णिका के पत्ते पहले बंद हो जाते हैं। ठूँठ भी मुरझाकर पूरी पर्णिका लटकती-सी हो जाती है। फिर आगेवाली पर्णिका में भी ऐसे ही होता है। अगर ठूँठ या पर्णिका को गैलवनोमीटर से जोड़ा गया हो तो विद्युत् प्रवाह में हुआ परिवर्तन भी नापा जा सकता है। बंद पत्ते कुछ समय के बाद फिर खुल जाते हैं।

अगर यह उलटी दिशा में किया जाए यानी कि पर्णिका के सिरे की ओर जलती माचिस ले जाएँ तो उस ओर के पत्ते पहले बंद होते हैं, फिर क्रमशः निचले पत्ते बंद होकर अंत में पर्णिका लटक-सी जाती है। इस समय भी विद्युत्-धारा में परिवर्तन होता है।

वैद्युत् उत्तेजना को छुईमुई द्वारा दिए जानेवाले इस यांत्रिक प्रतिसाद का प्राणियों द्वारा दिए गए प्रतिसाद से पूरा साम्य है, ऐसा बसु का प्रतिपादन था। प्राणियों में तंत्रिकाओं द्वारा विद्युत् वहन होता है तथा स्नायुओं द्वारा यांत्रिक प्रतिसाद दिया जाता है। शीतलता सम्मोहन तथा क्षणिक विद्युत्-धारा का वहन—इनसे प्राणियों के प्रतिसाद में जो परिवर्तन होता है, ठीक वैसा ही परिवर्तन वनस्पतियों में भी होता है, ऐसा बसु ने दिखा दिया।

छुईमुई जैसी संवेदनशील वनस्पतियों में तो प्राणियों की प्रतिवर्ती क्रिया (reflex action) जैसी क्रियाएँ भी दिखाई देती हैं। इसे इस तरह से समझिये, हमारा अनजाने में किसी तप्त वस्तु को हाथ से स्पर्श हुआ तो क्षण मात्र में हाथ पीछे खिंच जाता है, वेदना का बोध कुछ क्षण बाद होता है। यह कैसे होता है? तप्त वस्तु का स्पर्श होते ही उस स्थान से तंत्रिकाओं द्वारा वह तीव्र संवेदना मस्तिष्क तक भेजी जाती है। लेकिन वह विद्युत्-धारा मस्तिष्क में पहुँचने के पहले ही हाथ में स्थित नसों के जोड़ के स्थान से स्नायु आकुंचित करनेवाली

विद्युत्-धारा छोड़ी जाती है, जिससे हाथ झटके से पीछे खिंच जाता है। क्षण मात्र में यह क्रिया पूरी हो जाती है। इसे 'प्रतिवर्ती क्रिया' कहते हैं।

प्रतिवर्ती क्रिया का ऐसा ही एक मंडल छुईमुई में भी दिखाई देता है, ऐसा बसु का कहना था। एक निरीक्षण से उन्होंने यह सिद्ध किया। मान लीजिए कि छुईमुई की एक शाखा पर तीन पर्णिकाएँ हैं। अगर एक पर्णिका के सिरे के पास जलती माचिस ले जाई गई तो उसके पत्ते 'सिरे से नीचे' के क्रम से बंद होते जाते हैं। फिर दूसरी पर्णिका के पत्ते 'नीचे से सिरे तक' इस क्रम से सिमट जाते हैं। अंत में दूरवाली तीसरी पर्णिका के पत्ते भी इसी क्रम से सिमटते हैं। मानव की प्रतिवर्ती क्रिया की गति से यह गति काफी कम तो होती है; लेकिन दोनों का स्वरूप समान है। मानवी तंत्रिका तंत्र जैसी प्रणाली छुईमुई में भी कार्य करती है, ऐसा इससे बसु का निष्कर्ष रहा।

प्राणियों के कार्य से साधर्म्य रखनेवाली और एक वनस्पति है—'डस्मोडियम गायरेंस'। इसके पत्ते एक विशिष्ट लय से नित्य आंदोलित होते रहते हैं—जैसा कि मानव का हृदय आकुंचित-स्पंदित होता है। पत्तों की इस हलचल के कारण इस वनस्पति का 'टेलिग्राफ प्लांट' ऐसा लोकप्रिय नाम है—तार-यंत्र की पट्टी की तरह हिलनेवाले पत्ते!

अगर 'डेस्मोडियम' का एक पत्ता तोड़ा गया तो इसके आंदोलन समाप्त हो जाते हैं। लेकिन अगर उसका ठूँठ पानी में डुबोकर रखा गया तो तोड़े जाने के झटके से बाहर आकर वह पत्ता कुछ देर बाद फिर आंदोलित होने लगता है। प्राणियों के हृदय में भी ठीक ऐसा ही होता है, अगर वह शरीर से अलग कर दिया गया तो उसकी धड़कन रुक जाती है; लेकिन रिंगर के द्रव में रखने पर वह फिर शुरू हो जाता है। रक्तचाप कम होने से हृदय की धड़कन की गति भी कम होती है। अगर अन्न-रस का दबाव कम किया गया तो 'डस्मोडियम' के पत्ते की हलचल भी मंद हो जाती है। अगर दबाव पूर्ववत् कर दिया जाए तो आंदोलन भी पूर्ववत् हो जाते हैं। उच्च तापमान, सम्मोहक द्रव्य, विष, विषहारक द्रव्य इनके प्राणियों का हृदय एवं 'डेस्मोडियम' पर होनेवाले परिणाम समान होते हैं, ऐसा भी बसु ने दिखा दिया।

हृदय या तंत्रिका तंत्र जैसे अंदरूनी घटकों की तरह ही त्वचा जैसे बाहरी घटकों के बारे में भी प्राणी एवं वनस्पतियों में साम्य होता है। कछुआ, गिरगिट, मेढक की चमड़ी तथा अंगूर, टमाटर आदि फल एवं सब्जियों के छिलके समान तरीके का प्रतिसाद देते हैं। प्राणियों की आँखें एवं वनस्पतियों के पत्ते—इनका प्रकाश को दिया गया प्रतिसाद समान होता है। प्राणियों का पाचक तंत्र, तथा कीटभक्षी वनस्पतियों का पाचक तंत्र—इनका कार्य समान रीति का होता है।

वनस्पतियाँ उत्तेजनाओं को प्रतिसाद तो देती हैं; किंतु सतत दी गई उत्तेजना से, प्राणियों के स्नायु जैसे, वे भी थक जाती हैं। विश्राम के बाद वे फिर कार्य-सक्षम होती हैं।

किस तापमान में वनस्पतियों की कार्यक्षमता सर्वोच्च होती है, यह तय करने हेतु भी बसु ने प्रयोग किए। किस तापमान में वनस्पति की मृत्यु हो जाती है, यह भी उन्होंने जाँचा। इस

हेतु उन्होंने एक 'Death Recorder' बनाया। लगभग सारी वनस्पतियाँ 60º सेल्सियस को 'राम' कह देती हैं; किंतु पूर्वेतिहास, उम्र इनके अनुसार कुछ 70º तक भी जीवित रह सकती हैं। लेकिन थकावट, विष बाधा इनसे कमजोर होने पर मृत्यु का तापमान 23º तक भी नीचे आता है। मृत्यु के क्षण वे एक झटका-सा देती हैं तथा उस समय बिजली का भारी दबाव भी निर्माण होता है। "पकाने हेतु रखे 500 मटर के दाने 500 वोल्ट दाब की बिजली क्षण मात्र के लिए पैदा करते हैं। अपनी कड़कड़ाहट से महाराज को डरा सकते हैं।" बसु कहते हैं। "लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं, क्योंकि वे 500 दाने एक साथ श्रेणी (Series) पद्धति से जुड़े नहीं होते।"

वनस्पतियों को अन्न निर्माण करने के लिए कार्बन-डाइऑक्साइड की आवश्यकता होती है, यह तो सभी जानते हैं। लेकिन उसकी अधिक मात्रा से प्राणियों के ही समान उनका दम घुटता है। और फिर प्राणवायु सुँघाने पर वे फिर सामान्य हो जाती हैं। मद्य पिलाने पर वह भी छकता है; 'ज्यादा' होने पर बेहोश से संतुलन खो देता है। कुछ समय बाद फिर होश में आ तो जाता है; किंतु मनुष्य जैसे ही उसकी अनुक्लांति (hang-over) दीर्घकाल तक बनी रहती है।

इन सभी प्रयोगों की पद्धति, परिणाम ग्रंथों द्वारा ही दुनिया के सामने प्रस्तुत करने पर बसु मजबूर थे। इसलिए सन् 1904 से ही उन्होंने अपने दूसरे ग्रंथ का लेखन आरंभ किया था। मई में वे अबुसादा, निवेदिता एवं भगिनी लावण्यप्रभा के साथ मायावत गए थे। वहाँ 17 मई को उन्होंने ग्रंथ लेखन का शुभारंभ किया। नाम तय किया—'Plant Response as a Means of physiological Investigation'। उसके लेखन में बसु को निवेदिता का भारी सहयोग मिला। निवेदिता का बसु परिवार के प्रति होनेवाला प्यार, लगन यह तो एक बात इसमें है ही; किंतु दूसरे महत्त्व की बात यह भी है कि निवेदिता को वनस्पति-शास्त्र की अच्छी जानकारी थी। जब रामकृष्ण मठ, बेलूर में उनका स्थानांतरण हुआ, तब संन्यासी बंधुओं को वह हर बुधवार वनस्पति-शास्त्र एवं हर शुक्रवार शरीर-शास्त्र सिखाती थीं। स्वामी विवेकानंद का विशाल दृष्टिकोण इससे प्रतीत होता है। ग्रंथ लेखन के समय उस विषय की अभ्यासक होनेवाली एक विदुषी का घर में होना बसु के लिए सौभाग्य की बात थी। यह पूरा ग्रंथ निवेदिता ने अपने हाथ से लिखा है। इस दौरान प्रतिदिन एक तो जगदीश बसपारा गली में निवेदिता के घर जाते या तो वो सर्कुलर रोड पर बसु के घर आती। गरमी की या तो दुर्गा-पूजा की छुट्टी में बसु परिवार निवेदिता सहित मायावती या दार्जिलिंग जाया करता।

सन् 1906 में यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। लगभग 800 पृष्ठों के इस ग्रंथ में 300 से अधिक प्रयोगों की जानकारी थी। इन प्रयोगों के क्रांतिकारी निष्कर्ष वनस्पति-वैज्ञानिकों को मान्य होना असंभव ही था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। उनका तो बसु से अघोषित युद्ध जारी ही था। उसमें भी 'वनस्पतियों के तंत्रिका तंत्र होते हैं', बसु का यह प्रतिपादन वे कतई मान्य नहीं करने वाले थे। 'Botanical Gazette' ने इस पुस्तक पर मत व्यक्त करते समय 'नए ज्ञान-शिखर पैदा करने के लिए' बसु को बधाई तो दी, किंतु यह ग्रंथ 'ग्रंथकर्ता के विषय

से अपरिचित होने के कारण उद्भूत अनेक त्रुटियों से ग्रस्त होने' की आलोचना भी की।

पारंपरिक वनस्पति-विज्ञानियों के विरोध की अनदेखी करके बसु ने अपना तीसरा ग्रंथ भी प्रकाशित किया—'Compaitive Electro-physiology'। इसके लेखन में भी निवेदिता का योगदान रहा। ग्रंथ में 325 प्रयोगों का ब्योरा है। उनके निष्कर्ष भी स्वाभाविक ही प्रचलित ज्ञान एवं संकल्पनाओं से मेल नहीं खा रहे थे। उस समय प्राणियों एवं वनस्पतियों में होनेवाले भेद दरशानेवाली जानकारी प्रचलित थी जबकि बसु निर्देश कर रहे थे साम्य की ओर!

विश्वविख्यात जर्नल 'नेचर' ने इन दोनों ग्रंथों पर मत छापे। 'Plant Response' के बारे में परीक्षणकर्ता लिखता है—'कुशलता से गूँथी औत्सुक्यपूर्ण बातों से यह ग्रंथ खचाखच भरा हुआ है। और अगर उसके बारे में हमारे मन में अविश्वास न पैदा होता रहा तो यह जानकारी अत्यंत मूल्यवान् कही जाएगी।' अन्य ग्रंथ के बारे में वह लिखता है—'अपने विषय की अभिजात, पारंपरिक संकल्पनाओं से परिचित है, ऐसा पादपकार्यिकी का अभ्यासक पहली बार यह ग्रंथ पढ़ते समय उलझन में पड़ जाएगा। वस्तुतः यह ग्रंथ अत्यंत तार्किक रीति से एवं सुगम पद्धति से साकार होता जाता है। किंतु, उसमें स्थित जानकारी का अस्तित्व में होने वाले ज्ञान भंडार से उद्गम नहीं होता, न वह उसे जोड़ने का कहीं प्रयास है। इस अलिप्तता का परिणाम, समकालीन अन्य अनुसंधानकर्ताओं के कार्य के संदर्भों के अभाव में, अधिक ही गहरा जाता है।"

यह बेचारा परीक्षणकर्ता यह नहीं जानता था कि इस विषय में अनुसंधान करनेवाला पूरी दुनिया में अन्य कोई था ही नहीं तथा दुनिया से पचास वर्ष आगे होनेवाले एक प्रज्ञावंत के ग्रंथ में 'समकालीन अनुसंधान' के संदर्भ भला कैसे हो सकते हैं!

इन दो ग्रंथों में से बसु ने महत्त्व के निष्कर्ष दुनिया के सामने रखे—(1) सभी वनस्पतियाँ उत्तेजनाओं को प्रतिसाद देती हैं, तथा (2), इन प्रतिसादों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राणियों एवं वनस्पतियों में भारी साम्य है।

लेकिन यह प्रतिपादन करते समय भी बसु में स्थित वैज्ञानिक जाग्रत् था। एक ओर 'वनस्पति एवं प्राणियों में कुछ साम्य नहीं है,' ऐसा कहनेवालों का वे सुबूतों के साथ विरोध करते हैं तो दूसरी ओर, वनस्पतियों पर मानवीय गुणों का आरोपण बिना सुबूत के करनेवालों का भी वे विरोध करते हैं।

"यह मात्र भावनात्मकता है। उससे शुद्ध ज्ञान में कुछ जोड़ा नहीं जाता।" वे कहते हैं। "वनस्पति एवं प्राणियों का साम्य, उनकी शरीर वैज्ञानिक कार्य-पद्धति के साधर्म्य दरशानेवाले प्रयोगों के द्वारा ही सिद्ध होना चाहिए।"—उनका आग्रह था। इस वैज्ञानिक अधिष्ठान के बल पर ही वे बर्डन-सॅडरसन जैसे दिग्गज को चुनौती देकर कह सके कि "मेरी गलती प्रयोगों के आधार पर दिखाई जाए : अधिकार के आधार पर मेरा दमन नहीं किया जा सकता!" प्रयोगों से जितना सिद्ध होता उतना ही वे प्रतिपादित करते। भावनात्मक

होकर अवैज्ञानिक विधान करना उन्होंने सदा ही टाला। इसीलिए कुछ वर्ष बाद जब उनके प्रयोग करना अन्यान्य स्थानों पर भी संभव होता गया, तब अनुसंधानकर्ताओं को उनके निष्कर्षों को मान्यता देनी ही पड़ी।

इस ग्रंथ के लेखनकाल में ही अक्तूबर 1904 में, जगदीश दा बोध गया गए। वैसे तो वे अबला दी के साथ यात्रा एवं पर्यटन के लिए कई बार जाया करते थे, किंतु यह दौर विशेष तौर पर संस्मरणीय रहा, साथ में होनेवाले व्यक्तियों के कारण—भगिनी निवेदिता, रवींद्रनाथ, महान् इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार, स्वामी शंकरानंद एवं पटना के मथुरानाथ सिंह। यदुनाथ सरकार ने निवेदिता पर लिखे एक स्मृति लेख में इस दौर का वृत्तांत कथन किया है, "निवेदिता प्रतिदिन वॉरेन हेस्टिंग्स के 'बुद्धिज्म' का पठन करतीं। कभी-कभी एडविन अर्नाल्ड के 'Light of Asia' का पठन होता। रवींद्रनाथ अपने गीत-गायन से सारा माहौल भासित करते। दिन में हम सब मंदिर एवं उसके परिसर में घूमने जाते। कभी-कभी आसपास के देहातों में भी जाया करते। शाम के समय संधितकाश में, हम सब बोधि वृक्ष के नीचे मौन बैठ जाते; चिंतन ध्यान में निमग्न हो जाते।" जिस वृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हुआ, उसी स्थान पर ये सब महानुभाव ध्यानस्थ बैठे हैं; दुनिया को दुःख से मुक्त करने की उस महामानव की इच्छा को अपने अपने कार्य के द्वारा कैसे पूरी की जाए, इस पर चिंतन कर रहे हैं। यह दृश्य अति रोमांचक दिखाई देता होगा, इसमें संदेह नहीं।"

भारत में अभ्युदय का विचार रवींद्रनाथ तथा बसु के मन में नित्य रहता था। इस हेतु शिक्षा एक महत्त्व का साधन था। रवींद्रनाथ ने उस क्षेत्र में एक महान् कार्य आगे खड़ा किया। लेकिन शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिए, उसकी गुणवत्ता कितनी होनी चाहिए, इस पर उनका चिंतन पहले से जारी था। 'भांडार' नामक बंगाली पत्रिका के संपादक के नाते रवींद्रनाथ ने सन् 1905 में जगदीशचंद्र का एक साक्षात्कार प्रकाशित किया—

प्रश्न : क्या हमारे देश में (विज्ञान की) शिक्षा का एवं परीक्षाओं का स्तर और कठिन होना आवश्यक है?

बसु : हमारे देश में शिक्षित लोगों में भी विज्ञान की शिक्षा का प्रसार बहुत कम है। ऐसे में हमें अपनी परिस्थिति को, कमजोरियों को ध्यान रखते हुए ही सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए। दूसरों की नकल करने से काम नहीं होगा।

अगर हमें विज्ञान लोगों तक पहुँचाना है तो उसकी पद्धति क्या हो सकती है? वह चाय जैसी होनी चाहिए! भारत में चाय लोकप्रिय करने के लिए क्या नीति अपनाई गई? देश भर में सस्ती चाय उपलब्ध कराई गई। लोग एक बार चाय पीएँगे—बार-बार पीएँगे और फिर चाय के शौकीन बन जाएँगे। भारी-से-भारी चाय महँगे दाम में बिकना, यह चाय लोकप्रिय करने का मार्ग नहीं हो सकता।

ठीक इसी तरह विज्ञान लोकप्रिय करना होगा। इसकी भाषा व शिक्षा सरल होनी चाहिए। शिक्षा आसान होनी चाहिए। हम एक ही छलाँग में पश्चिमी विश्वविद्यालयों का स्तर प्राप्त करेंगे? यह संभव नहीं है। उसमें शरमाने की भी कोई बात नहीं है।

और एक मुद्दा है—वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए जटिल समस्याओं का या उच्च सिद्धांतों का अध्ययन ही आवश्यक है, ऐसा नहीं है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, उससे नजदीकी संबंध, इनसे भी यह दृष्टिकोण विकसित होता है। छात्रों में यह शक्ति कैसे पैदा होगी, अगर है तो कैसे बढ़ेगी, इस पर हमें गौर करना होगा। मात्र ग्रांथिक शिक्षा या परीक्षाओं को कठोर या कठिन बनाने से स्तर नहीं बढ़ेगा।

स्वयं बसु इसी पद्धति से अध्ययन करके महान् वैज्ञानिक बने थे। भारत की तत्कालीन परिस्थिति में वैज्ञानिक प्रगति के लिए क्या करना आवश्यक था, इसके बारे में उनके व्यक्त किए गए यह विचार स्वानुभव से प्रकट हुए थे।

बसु की दो नई पुस्तकों ने पश्चिमी वैज्ञानिकों में काफी उत्सुकता जगाई। उनके प्रयोग देखने की वे इच्छा कर रहे थे। कई विश्वविद्यालयों से भी निमंत्रण आए थे। बसु भी यूरोप के साथ अमेरिका का दौरा करने की इच्छा रखे हुए थे। सन् 1901 में रवींद्रनाथ को लिखे पत्र में उन्होंने हर तीन वर्ष बाद विदेश जाने की इच्छा एवं आवश्यकता व्यक्त की थी। सन् 1907 में वे विदेश जाएँ, ऐसा गोपाल कृष्ण गोखलेजी का अनुरोध था। और, शायद उन जैसे व्यक्ति के सुझाव पर या तो बसु के कार्य का महत्त्व अपने आप ही मान्य होने के कारण सरकार ने इस बार अपने प्रतिनिधि के रूप में (On deputation) उन्हें यूरोप-अमेरिका भेजने का निश्चय किया। किसी तरह की अड़चनों-कठिनाइयों-रुकावटों के बिना ही अगस्त में बसु यूरोप के लिए रवाना हुए। साथ में अबला दी एवं आग्रह करने पर निवेदिता भी साथ में थीं।

इस वर्ष का 'ब्रिटिश एसोसिएशन' का अधिवेशन डब्लिन में था। उसमें 4 सितंबर को बसु का 'Mechanical and Electrical Response in Plants' विषय पर व्याख्यान हुआ। इस कार्यक्रम के बाद कुछ बीमारी के उपचार के लिए बसु जर्मनी गए। निवेदिता अपने घर गईं। नवंबर में वे एक सप्ताह भर के लिए जर्मनी में रहने के बाद बसु दंपती को अपनी माँ के क्लपहॅम स्थित घर ले आईं।

सन् 1908 के मध्य में बसु के इंग्लैंड में नियोजित काम पूरे हुए। फिर वे सितंबर में आयरलैंड गए। एक माह तक वहाँ पर्यटन करने के बाद 26 सितंबर को उन तीनों ने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। 15 अक्तूबर को वे सारा बुल के घर बोस्टन पहुँचे।

अगले 6 महीनों तक अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं में उनके व्याख्यान हुए। इलिनॉय, विस्कॉन्सिन, शिकागो के विश्वविद्यालय, बाल्टिमोर का American Association for the Advancement of Science, तथा Botanical Society; बोस्टन की Medical Society; शिकागो की Academy of Sciences, Tone Botanical Club,

तथा Western Society of Engineers—इन संस्थाओं में भी उनके व्याख्यान हुए। बाल्टिमोर के व्याख्यान के बाद रवींद्रनाथ को लिखे 8 जनवरी, 1909 के पत्र में बसु लिखते हैं—"मेरे प्रयोग एवं निष्कर्षों के बारे में सभी आश्चर्य एवं संतोष व्यक्त कर रहे हैं। अनेक स्थानों पर मेरे उपकरणों का उपयोग करके अनुसंधान-कार्य भी आरंभ हुआ है। वॉशिंगटन में सरकार का जो कृषि विभाग है, उसने मुझे आमंत्रित किया है। मेरे अनुसंधान से खेती संबंधित कुछ नई जानकारी उपलब्ध हो सकती है, ऐसा उन्हें लगता है।"

इंग्लैंड-अमेरिका के इस दौरे से बसु काफी लाभान्वित रहे। पुस्तकों में वर्णित प्रयोगों का प्रस्तुतीकरण करने से उनकी विश्वसनीयता बढ़ी। पादपकार्यिकी के अभ्यासकों को अनुसंधान हेतु नए क्षितिज खुले। 'Plant Response' के परीक्षण में 'नेचर' ने लिखा था—"यह ग्रंथ पादपकार्यिकी की वृद्धि के लिए मिली एक 'उत्तेजना' ही है; तथा भावी अनुसंधानकर्ताओं की ओर से उसे अच्छा 'प्रतिसाद' मिलेगा।" परीक्षणकर्ता की इस इच्छा की पूर्ति होती रहने का सुखद संदेश बसु को इस दौरे में मिला।

अमेरिका से सीधा भारत लौटने का उनका विचार था। किंतु कर्क रोग से ग्रस्त अपनी माँ का स्वास्थ्य चिंताजनक होने की खबर मिलने पर निवेदिता तुरंत इंग्लैंड गईं। 26 जनवरी को माँ का देहांत हो गया। फिर, अमेरिका के कार्यक्रम समाप्त होने पर जगदीश एवं अबला दी भी इंग्लैंड आए। एक-डेढ़ महीना वहाँ रहने पर वे निवेदिता के साथ यूरोप गए और जून में कलकत्ता वापस लौटे।

भारत लौटने के बाद बसु का अनुसंधान-कार्य आगे चलता रहा। वनस्पतियों के रहस्य खोज निकालने के ध्येय से वे पूरे व्यस्त थे। इस कार्य में मुख्य न्यूनता थी संवेदनशील उपकरणों की, इसलिए बसु के कार्य का वह भी एक महत्त्व का अंग रहा। उपकरणों का संकल्पन, उन्हें बनाना, उनमें पूर्णता लाना, इसमें कई वर्षों का काल बीता।

उन्होंने एक 'Balancing Apparaturs' तैयार किया। वनस्पति को एक स्थान पर दिए झटके की संवेदना, भूकंप के झटके जैसी, उसके पूरे देह में फैलती है तथा दूसरी जगह उसका मापन भी किया जा सकता है, ऐसा इस उपकरण की सहायता से बसु ने दिखा दिया।

मानवीय नसों जैसी वेदना तथा संवेदनाओं का वहन करनेवाली कुछ प्रणाली वनस्पतियों में भी होती है, ऐसा इससे सिद्ध हुआ। "क्या इस यंत्रणा का स्थान हम निश्चित कर सकते हैं? यह इसका अनुवर्ती प्रश्न तुरंत बसु के मन में उभरा। वे तुरंत उस हेतु प्रयोगों में लग गए। प्लैटिनम की बारीक सूची वनस्पति के तन में विभिन्न गहराई तक भोंककर कौन सी पेशियाँ संदेश-वहन का कार्य करती हैं, यह जानने का प्रयास उन्होंने किया।" 'Electric Probe' का उपयोग इस तरह प्रयोगों में करनेवाले वे पहले वैज्ञानिक थे। वनस्पतियों का 'Phloem' तंत्रिका का कार्य करता है, ऐसा उनका मत बना। किंतु, यह बात विवादास्पद मानी जाती है।

ऐसे संवेदना-वहन की गति कितनी होती है? हर वनस्पति में वह अलग-अलग रहती है। बसु उसे नापना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक 'Resonant Recorder' बनाया।*
उसकी मदद से मापन करने पर बसु ने छुई-मुई की संवेदना-वहन की गति निश्चित की— 20 से 400 मिलिमीटर प्रति सेकंड।

'वनस्पतियों की वृद्धि' विषय का बसु का अध्ययन गहरा था। यह वृद्धि अत्यंत धीमी रहती है। उसकी गति मापना धीरज का काम होता है। लेकिन बसु ने अत्यल्प वृद्धि तुरंत नापनेवाला एक 'High Magnification Crescograph' तैयार किया। उसे पूर्णत्व देने में आठ वर्ष लगे। लेकिन उसके द्वारा 1/1,00,000 इंच प्रति सेकंड इतनी कम वृद्धि भी दर्ज की जा सकती है, और वह भी 90,000 गुना बड़ा करके!

इस मापक को अंतिम रूप देने के लिए इतने वर्ष व्यतीत करने का समर्थन करते हुए बसु कहते हैं—"जो उपकरण सद्यः उपलब्ध हैं, उनके द्वारा वृद्धि की दर मापने में काफी समय लगता है। किसी एक घटक का वृद्धि पर होनेवाला परिणाम मापते समय शेष घटक स्थिर रखने होते हैं। ऐसे में अगर प्रयोग पूर्ण होने में घंटों का समय लगता है तो उस दीर्घ अवधि तक अन्य घटक स्थिर रखना मुश्किल काम है। घंटों की अवधि में तापमान, आर्द्रता बदल जाती है।"

बसु के उपकरण 'आशु-मापक' होने के साथ-साथ 'विस्तारक' भी थे। सूक्ष्म वृद्धि (या संकोच) की अति वर्धित (magnified) प्रतिभा उनसे मिलती। इनकी सहायता से वनस्पतियों की वृद्धि की पद्धति भी बसु को ज्ञात हुई। यह अखंड, रेखीय न होकर आकुंचन-प्रसरण की शृंखला के रूप में होती है। एक हलके झटके में वृद्धि होती है, जिसके बाद एक-चौथाई घटाव होता है। कलकत्ता में प्रति मिनट ऐसे तीन आवर्तन होते हैं। कुछ वनस्पतियों की वृद्धि स्पर्श से रुक जाती है तो कुछ की अधिक होती है।

अपने इस High Magnification Crescograph के द्वारा बसु ने स्पर्श, उष्णता, प्रकाश, विद्युत्धारा, गुरुत्वाकर्षण, विभिन्न रसायन, खाद, विष आदि के वृद्धि पर होनेवाले परिणाम कुछ मिनटों की अवधि में दर्ज किए। इसका उपयोग अधिकतर खेती में होने का बसु का अनुमान था; क्योंकि किस घटक से कितने समय में फसल की कितनी वृद्धि होती है, इसका अध्ययन अब संभव था।

यह उपकरण देखने पर बसु के साथ अनुसंधान हेतु आए वनस्पति वैज्ञानिक (तथा बसु के आद्य चरित्रकार) प्रो. पैट्रिक गिडसे ने कहा, "अब मानो परिपूर्णता हासिल की गई है!" इस पर बसु ने कहा, "मानव कभी संतुष्ट नहीं होता!" फिर उन्होंने सूक्ष्मतर 'Magnetic Crescograph' बनाया, जिससे वृद्धि की 10 करोड़ गुना बड़ी प्रतिभा मिलती!

किसी उत्तेजना से वनस्पति की वृद्धि होती है या घटाव तथा उसकी दर—ये बातें तुरंत जानने के लिए बसु ने बाद में 'Balanced Crescograph' बनाया। इसमें जिस गति से वनस्पति की ऊँचाई बढ़ती, ठीक उसी दर से गमला नीचे आया करता। इससे वृद्धि का नक्त

मूल्य शून्य हो जाता तथा कागज पर दर्ज हुआ करती मात्र वृद्धि की दर।

यह उपकरण इतना संवेदनशील था कि 1/150 कोटि इंच प्रति सेकंड, इतनी कम वृद्धि-दर भी वह दर्ज करता।

गरम वायु, सूर्य प्रकाश इसका प्रमाण बदलने पर उसका वृद्धि दर पर होने वाला असर नापना बैलंस्ड क्रेस्कोग्राफ से आसान हो गया। घंटों का काम मिनटों में होने लगा। बिजली की एक चिंगारी के प्रकाश से वृद्धि-दर पर होने वाला परिणाम बसु नाप सके!

देशभक्त होने के कारण बसु ने इन उपकरणों को संस्कृत नाम देने का प्रयास किया। किंतु अंग्रेजी भाषकों ने इतने अपभ्रष्ट किए कि बसु ने ऐसे नाम देना ही बंद कर दिया। अपने 'क्रेस्कोग्राफ' के बारे में वे 'आहत उद्भिद' (जख्मी वनस्पति) नामक बंगाली लेख में लिखते हैं—"मेरे ऐसा ध्यान में आया कि हिरण्यकशिपु को 'हरा' बोलने पर मजबूर करना संभव है; किंतु किसी अंग्रेजी भाषिक के बारे में यह असंभव है। वो उसका 'हरा' ही करेगा! इसलिए मैंने इस नए उपकरण को 'वृद्धिमान' कहने की कल्पना ही त्याग दी है। गोरे अधिकारियों ने 'वर्धमान ग्राम का नाम' 'बरद्वान' ऐसा कर ही दिया है, वैसा ही कुछ 'वृद्धिमान' का भी होगा। इससे बेहतर यह है कि उसे 'क्रेस्कोग्राफ' ही कहा जाए।"

इसके बाद बसु ने एक 'Photosynthetic Recorder' बनाया। प्रकाश संश्लेषण की क्रिया के चलते वनस्पति कितनी गरम वायु का ग्रहण करती है, इसका लेखन अपने आप उसमें हो जाता है। इससे किस घटक से इसके दर में घटाव-बढ़ाव होता है, यह जानना संभव हो गया। इस लेख के आधार पर बसु ने वनस्पति 'कार्यक्षमता' निश्चित की।

इसके अलावा स्वयं-नापन के लिए बसु ने बैलेंस पोटो मीटर, प्लैट स्फिग्मोग्राफ, सेल्फ-रिकॉर्डिंग रेडियोग्राफ, मैग्नेटिक रेडियोमीटर, एक्जुडेशन रिकॉर्डर जैसे अनेक उपकरण बनाए।

'उद्भिदेर प्राणयंत्र', यानी वनस्पतियों की कार्य-पद्धति, यह बसु के अनेक वर्षों के अध्ययन का विषय था। वनस्पतियों का श्वसन कैसे चलता है, खाना-पीना कैसे चलता है, जागृति एवं निद्रा कैसे होती हैं—ऐसे अनेक मुद्दों पर उन्होंने गहरा अनुसंधान किया।

वनस्पतियों के भोजन-निर्माण की प्रक्रिया को 'प्रकाश-संश्लेषण' (Photo synthesis) कहा जाता है। सूर्य के प्रकाश से मिलनेवाली ऊर्जा के सहारे वनस्पतियों का 'हरित द्रव्य' (Chlorophyll) कार्बन-डाइऑक्साइड एवं पानी की सहायता से भोजन का संश्लेषण करती है। इसलिए वे दिन में जागती हैं तथा रात को सोती हैं। कई वनस्पतियों के पत्ते रात होने पर सचमुच बंद हो जाते हैं तथा सूरज की प्रभा फैलने पर खुल जाते हैं।

सूर्य प्रकाश जैसे ही वातावरण का तापमान भी एक घटक है। वह कैसे प्रभावी है, यह एक दिलचस्प उदाहरण से जगदीशचंद्र ने दिखा दिया। पानी में होनेवाली चंद्र निकासी कमल की एक प्रजाति है, जिसे निंफिया या 'वॉटर लिली' कहा जाता है। इसके फूल रात में खिलते

हैं तथा दिन में बंद होते हैं। प्राचीन संस्कृत कवियों ने इसका शृंगारिक स्पष्टीकरण ऐसा दिया कि चाँद इस कुमुदिनी का प्रियकर होने से, उसका स्पर्श होते ही वह खिल जाती है। और फिर सूरज की दाहक किरणों के कारण उसके फूल मुरझा जाते हैं। "शाम के समय आधे अँधेरे में ये सफेद फूल काले होते जा रहे पानी की पृष्ठभूमि पर बहुत ही सुंदर दिखते हैं।" बसु कहते हैं। "किंतु अंततः कवि, कवि ही होते हैं। ये फूल कब खिलते हैं, यह देखने हेतु हाथ में लालटेन लेकर कवि तालाब के पास जाए, यह संभव नहीं है, वह मात्र वैज्ञानिक ही करेगा। और ऐसा वैज्ञानिक जान जाएगा कि चंद्र न होने वाली रात को भी ये फूल खिलते हैं तथा सूरज के उगने के काफी समय बाद तक ये उन्मीलित ही रहते हैं। इसके कारणों की मैंने खोज की, तब मैं जान गया कि इसका संबंध प्रियकर से नहीं, अपितु तापमान से है! सूर्यास्त के पश्चात् तापमान कम होने लगता है और परिणामस्वरूप ये फूल खिलने लगते हैं। रात 10 बजे वे पूर्णोन्मीलित रहते हैं। सुबह 6 बजे के बाद जैसे-जैसे तापमान बढ़ने लगता है, उनका कुम्हलाना आरंभ होता है और 10 बजे तक वे पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। उनकी जागृति एवं निद्रा तापमान से संबद्ध है। अगर इन्हें किसी शीत स्थान में रखा गया तो ये फूल दिन में भी खिले रहते हैं।"

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस कवि कल्पना का बसु ने जिस तरह निस्तार किया, ठीक उसी तरह एक अंधश्रद्धा का भी निस्तार उन्होंने किया। फरीदपुर में एक पुराना पेड़ था। उसका व्यास 10 इंच था। लेकिन वह सीधा न होकर जमीन से 30° का कोण करके बढ़ा था। उसका एक आश्चर्यजनक वैशिष्ट्य था। जिस मंदिर के सामने वह था, उसका घंटा शाम की पूजा के समय बजने पर वह नीचे झुक जाता। उसका सिरा 3 फीट नीचे झुककर पत्ते जमीन को स्पर्श करते। सुबह होने पर सिरा फिर ऊपर हो जाता और तिरछी स्थिति में पड़े सीधा हो जाता। 'पेड़ एक शापित राक्षस है', ऐसी लोगों की धारणा थी। उसके सामने कुछ पैसे रखने पर बीमारियाँ ठीक हो जाती हैं, ऐसा भी वे मानते थे। इससे पेड़ के मालिक को काफी आमदनी होती थी।

बसु ने उसके दो फोटो खींचे—एक सुबह तथा दूसरा दोपहर में। 3 फीट नीचे-ऊपर होनेवाला सिरा तथा 15 फीट नीचे-ऊपर होनेवाले सिरे के पत्ते देखकर बसु भी अचंभित हुए। लेकिन इसमें कुछ गूढ़ बात है, ऐसा उन्होंने कभी नहीं माना। विज्ञान की दृष्टि से गूढ़ या भौतिक के परे, ऐसा कुछ नहीं होता; मात्र कार्य-कारण भाव ज्ञात न होने से गूढ़ता महसूस होती है, ऐसा उनका मानना था। इसलिए वे इस भगवान् के सामने झुककर प्रार्थना करनेवाले खजूर के पेड़ (Praying Palm) के पीछे क्या कारण है, यह खोजने में लग गए।

"पेड़ की हलचल दो कारणों से हो सकती है।" बसु ने कहा, "प्रकाश या तापमान! लेकिन तने पर की मृत पेशियों के मोटे स्तर को पार करके प्रकाश अंदर तक पहुँचना असंभव था। तो अन्य कारण रहा तापमान। उसका परिणाम जाँचने हेतु मैंने पेड़ की हलचल रात-दिन नापनेवाला एक उपकरण जोड़ा। उसी के साथ रात-दिन का तापमान भी दर्ज किया। यह करने हेतु मालिक को काफी मनाना पड़ा। ये दो आलेख सामने रखते ही उनका सीधा संबंध दिखाई देने लगा। वे मानो एक-दूसरे की प्रति थे। आलेखों से एक बात स्पष्ट हुई कि पेड़ की

नत-तम स्थिति दोपहर 3.15 के समय हुआ करती थी, शाम की पूजा के समय नहीं तथा उन्नत-तम स्थिति सुबह 7 बजे रहती थी। यानी कि तापमान बढ़ने पर पेड़ नीचे झुकता था तथा कम होने पर वह ऊपर हो जाता था।"

लेकिन क्या यह क्रिया भौतिक थी या जैविक? अगर वह भौतिक होती तो पेड़ मरने पर वह जारी रहती, अगर जैविक रहती तो पेड़ मरने पर बंद हो जाती। लेकिन इसका उत्तर पाना है तो पेड़ को मारना चाहिए। यह अनुचित होने से बसु ने यह प्रश्न अनुत्तरित ही रखने का निर्णय किया।

किंतु, सौभाग्य से या दुर्भाग्य से, ठीक एक वर्ष बाद इसी विषय पर बसु के व्याख्यान के दौरान अध्यक्ष पद पर विराजित गवर्नर लॉर्ड रोनाल्डसे के हाथ में फरीदपुर से एक तार आया—"खजूर का वह पेड़ मर चुका है तथा उसकी हलचल रुक गई है।" बसु के प्रश्न का उत्तर इस बेतार संदेश से मिल गया।

पेड़ पुराना था तथा उसकी मृत्यु प्राकृतिक थी। लेकिन कुछ श्रद्धालुओं ने उसका संबंध बसु के प्रयोगों से जोड़ा। यह गलत थी, फिर भी बसु अस्वस्थ तो हुए ही, क्योंकि श्रद्धालुओं की यह गलतफहमी दूर करना संभव न था।

नतोन्नत होनेवाला वह पेड़ अपवाद नहीं था। कई पेड़ों में ऐसी हलचल होती है। ऐसी जानकारी बसु को मिली। एक तालाब के किनारे पर नारियल का ऐसा ही एक तिरछा पेड़ था। दिन में हवा में झोंके लेनेवाले उसके पत्ते शाम को तालाब का पानी पी रहे जैसे दिखाई देते। दक्षिण अफ्रीका में नारियल का एक बाग था। समंदर से आनेवाली तेज हवा के कारण उसके कई वृक्ष तिरछे बढ़े थे। सुबह वे सीधे रहते, किंतु शाम को उनके सिरे इतने नीचे झुक जाते कि जमीन पर खड़े रहकर ही उनके फल निकाले जा सकते!

तापमान के बदलाव कारण इतना नतोन्नतन होने का क्या कारण है? बसु ने इसका स्पष्टीकरण कुछ ऐसे दिया, "पेड़ों के अवयवों की वृद्धि अलग-अलग दिशाओं में होती है।" जड़ें नीचे, गुरुत्वाकर्षण की दिशा में बढ़ती हैं तो तना उसकी विरुद्ध दिशा में। शाखाएँ, पत्ते ऐसे फैलते हैं कि उन्हें अधिकतम सूर्य प्रकाश की प्राप्ति हो। अगर पेड़ का तना किसी कारण से तिरछा बढ़ता है तो कुछ वर्ष बाद उसका सिरा रुख बदलकर फिर सीधा ऊपर बढ़ने लगता है। इस स्थिति में जो बल-प्रतिबल पेड़ पर काम करते हैं, उन पर तापमान का परिणाम होता है। तापमान बढ़ने पर वक्रता कम होती है, तापमान घटने पर वक्रता बढ़ती है। इसलिए वह खजूर का पेड़ सुबह 7 बजे से दोपहर 3.15 बजे तक नीचे झुकता जाता तथा उर्वरित काल में ऊपर उठता जाता।

वनस्पतियों में चलनेवाली ऐसी हलचलें (Tropic movements) बसु के अध्ययन का विषय थीं। ऐसा ही दूसरा विषय था—जीवन रस का उत्प्रवाह या रसारोहण (ascent of sap)। इस संबंध में उस समय 'भौतिक' मत प्रचलित था। उसके अनुसार रसाकर्षण (osmosis) के कारण बाहरी रस पानी के साथ जड़ों में प्रवेश करते हैं; मूलीय दबाव (root pressure)

तथा कोशिका क्रिया (capillary action) के कारण यह रस ऊपर ढकेला-खींचा जाता है और फिर वाष्पोत्सर्जन के कारण पत्तों में जो ऋण दबाव (negative pressure) तैयार होता है, उससे वह पत्ते-पत्ते में पहुँचता है।

बसु का कहना था कि उत्प्रवाह की क्रिया 'भौतिक' नहीं, अपितु 'जैविक' है। उत्प्रवाह के लिए न तो मूलीय दबाव आवश्यक है, न वाष्पोत्सर्जन। अपने इस मत की उन्होंने कुछ प्रयोगों से पुष्टि की। एक प्रयोग में उन्होंने एक पेड़ के दो पत्ते लिये—एक ताजा व हरा तो दूसरा पीला व सूखा। पत्ते तोड़ने पर मूलीय दबाव का कुछ संबंध रहा नहीं। फिर वाष्पोत्सर्जन का संबंध नष्ट करने हेतु उन्होंने दोनों पत्तों पर वेसलीन लगा दिया। फिर उन्होंने ये दोनों पर्ण, ठंडे पानी में डूबे रहेंगे, इस तरह रख दिए। थोड़े ही समय में हरा पत्ता पानी पीकर ताजा-सा हो गया, सूखा पत्ता जैसा का तैसा ही रहा।

अन्य एक प्रयोग में उन्होंने एक पौधा लेकर उसकी जड़ें निकाल दीं। इससे वह मुरझा गया। फिर बसु ने उसे पानी में रखा। कुछ अवधि में वह फिर सीधा हो गया। तीसरे प्रयोग में उन्होंने उखाड़ा हुआ पौधा उलटा करके पानी में डुबोया। कुछ ही मिनटों में वह भी ताजा-सा हो गया। इसका मतलब यह कि रस के शोषण के लिए जड़ों की ही आवश्यकता होती है, ऐसा नहीं है, तना भी शोषण सक्षम है।

फिर, रस सभी स्थानों पर कैसे पहुँचते हैं? जगदीशचंद्र का कहना था कि "वनस्पतियों में आकुंचन-प्रसरण होनेवाली पेशियाँ होती हैं। उनके सुसंवादी कार्य से रस का उदंचन होता है।" इसे रस के उत्प्रवाह का 'जैविक' सिद्धांत कहा जाता है। मूलीय दबाव एवं वाष्पोत्सर्जन के अभाव में भी ऐसा पेशियों के कारण रस उत्प्रवाहन होता है।

लेकिन बसु का यह मत सर्वमान्य नहीं है। यह क्रिया जटिल है। वह भौतिक एवं जैविक भी है। जैविक अधिक तथा भौतिक कम, ऐसा भी माना जाता है।

जगदीशचंद्र ने वनस्पतियों के संबंध में ये जो सभी प्रयोग किए, वह अनुसंधान उनके विभिन्न ग्रंथों में प्रकाशित है।*

बसु अनुसंधानकर्ता थे, लेकिन प्रयोगशाला में स्वयं को बंद करके दिन-रात वहीं कार्य करनेवाले नहीं। अगर वैसे होते तो रवींद्रनाथ या निवेदिता से उनकी दोस्ती होती ही नहीं। वे साहित्य व कलाओं में रुचि लेते, पर्यटन करते थे।

सन् 1909 में अमेरिका से लौटने के बाद वे अधिकतर अपने कार्य में ही व्यस्त थे। इसलिए जब सन् 1910 के मध्य में निवेदिता के साथ केदारनाथ एवं बद्रीनाथ जाने का अवसर सामने आया, तब बसु दंपती ने यह अवसर गँवाया नहीं। जून के पहले सप्ताह में उन्होंने कलकत्ता छोड़ा। साथ में उनका भतीजा अरविंद भी था। प्रथम वे हरिद्वार गए और बाद में केदारनाथ, बद्रीनाथ का दर्शन करके चमोली, नंदप्रयाग, कर्णप्रयाग से वापस आए। निवेदिता द्वारा लिखा इस दौरे का वर्णन ग्रंथ रूप से प्रकाशित हुआ है।

वे यात्रा से वापस लौटे ही थे, इतने में सारा बुल के बीमारी की खबर आ पहुँची। सारा ने निवेदिता को बोस्टन बुलाया था, लेकिन दो वर्ष के विदेश दौरे के बाद सन् 1909 में ही निवेदिता भारत लौटा आईं, अतः वे फिर नहीं जा सकती थीं। उन्होंने सारा को प्रोत्साहित करनेवाले पत्र लिखना आरंभ किया। सारा का व्यक्तित्व देखकर विवेकानंद ने उनका नामकरण 'धारामाता' किया था। वे सचमुच ही शांत, धैर्यवती थीं। वे निवेदिता की माँ भी थीं, सहेली भी एवं हितचिंतक भी। और निवेदिता की, इसलिए बसु की भी! दोनों के ग्रंथों के प्रकाशन के लिए उन्होंने आर्थिक सहायता दी थी। निवेदिता की पाठशाला उनकी आर्थिक सहायता से शुरू हुई थी। बसु का निजी प्रयोगशाला का सपना उनकी सहायता से ही पूरा होने वाला था। बसु का चरित्र लिखने की निवेदिता की इच्छा थी। उसके प्रकाशनार्थ सारा बुल कुछ धन देने वाली थीं। यह सब होने देखने के लिए सारा जीवित होनी ही चाहिए, ऐसा निवेदिता चाहती थीं।

अक्तूबर में दुर्गा-पूजा के अवकाश में बसु दंपती एवं निवेदिता हमेशा की तरह दार्जिलिंग गए। किंतु वहाँ निवेदिता के लिए तार आया कि 'श्रीमती बुल गंभीर हालत में हैं, अतः निवेदिता उन्हें मिलने तुरंत बोस्टन आएँ'। फिर निवेदिता से रहा नहीं गया। वे तुरंत जहाज से निकलकर 15 नवंबर को बोस्टन पहुँचीं। धारामाता बिछौने पर ही थीं। दिन-प्रतिदिन उन दोनों का बेलूर मठ, अल्मोड़ा, कश्मीर, कलकत्ता, विवेकानंद, श्रीरामकृष्ण, माताजी इन विषयों पर संभाषण चलता। निवेदिता उस समय स्वामीजी के 'ज्ञानयोग' का संपादन कर रही थीं। उसके कुछ अंश वे सारा को सुनातीं।

30 नवंबर को जगदीशचंद्र की वर्षगाँठ थी। उस अवसर पर उन्हें बधाई देने हेतु एक पत्र निवेदिता ने अमेरिका के प्रवास में ही जिनेवा से भेजा। अत्यंत भावपूर्ण एवं प्रेरणादायी पत्र में वे लिखती हैं, "यह शुभ दिन बारंबार आपके जीवन में आए एवं अधिकाधिक लाभदायी हो। यहाँ बाहर कोलंबस की प्रतिकृति है। आप में तथा कोलंबस में आध्यात्मिक स्तर पर कितना साम्य है! अज्ञात सागर में धैर्य से सफर करके लोगों को लाभान्वित करनेवाले सभी धैर्यवान् आप जैसे ही होते हैं।"

"आप सदा यशस्वी रहें। मानव जाति को प्रकाश दिखाएँ—मार्ग दिखाएँ। हे आध्यात्मिक जगत् के नाविक! तुमने कई नए भाग खोज निकाले हैं। तुम्हें निरंतर शांति का लाभ हो!"

उधर धारामाता का स्वास्थ्य निरंतर ढलता ही गया। 18 जनवरी, 1911 को उनका देहांत हुआ।

निवेदिता की इच्छा थी कि वे तुरंत भारत लौटें। किंतु सारा बुल के मृत्युपत्र के कार्यान्वयन में कुछ बाधा-निर्माण होने की आशंका से वे कुछ अधिक समय तक अपनी एक सहेली के घर ठहरीं। सारा विधवा थीं, उनके पति ओलेबुल नॉर्वे के थे। वे ख्यातनामा वायलिन-वादक थे। उन्होंने बहुत पैसा कमाया। स्वामी विवेकानंद के प्रभाव में आने पर सारा ने यह धन आर्त्त-विपन्न-पीड़ितों के कार्य में लगाने का निश्चय किया। उनकी यह वृत्ति उनकी बेटी ओलिया को अमान्य थी। इस मुद्दे पर उन माँ-बेटी में नित्य विवाद होता था। ओलिया तथा

अन्य कुछ रिश्तेदारों का मानना था कि सारा की संपत्ति पर अधिकार करने हेतु, उसे पूरी छीन लेने हेतु निवेदिता उनके पास आकर रही हैं। वास्तव में निवेदिता संन्यासिनी थीं तथा उन्हें पैसों का जरा भी लालच नहीं था। मात्र अपनी गुरुभगिनी की आपात्काल में सेवा करने हेतु वे उनके पास रही थीं। लेकिन ओलिया ने यह नहीं माना। मृत्यु-पत्र में निर्देशित धन बाँटा न जाए, इसके प्रयास में वे लगी रहीं। कानूनी कार्यवाही पूरा होने तक अमेरिका में रहना असंभव होने के कारण थॉर्प नामक वकील के हाथों में पूरा मामला सौंपकर अप्रैल 1911 में निवेदिता भारत लौटीं। सारा ने उनकी पाठशाला के लिए जो रकम रखी थी, अगर न मिली तो पाठशाला कैसे शुरू रखी जाए, यह एक बड़ी समस्या निवेदिता के सामने थी, क्योंकि राष्ट्रीय शिक्षा की इस शाला के लिए सरकार से मदद न लेने का उनका निश्चय था। कई महीनों के बाद थॉर्प का पत्र आया कि "शाला के लिए रखी रकम मिल जाएगी।" किंतु बसु की अनुसंधान संस्था के लिए रखी रकम मिल नहीं पाई।

शाला के लिए तथा बसु के कार्य के लिए सारा ने जो धन दिया, उसके लिए निवेदिता उनकी सदा कृतज्ञ रहीं। सन् 1910 में उन्हें लिखे पत्र में वे कहती हैं, "सच कहूँ, मेरी यह पाठशाला, मेरा लेखन, बसु के ग्रंथ एवं अनुसंधान—सब तेरा ही है। तेरे पैसों के कारण ही इन सत्कार्यों का मूर्त रूप सामने आया। तेरा दातृत्व देखने पर लगता है कि पैसा कुछ इतनी बुरी चीज नहीं है।"

10 अप्रैल, 1911 को निवेदिता कलकत्ता लौटीं, तब उनके लिए बसु के पास एक सुसमाचार था, 14 अप्रैल से होने वाले बंगीय साहित्य सम्मेलन के वे अध्यक्ष चुने गए थे। जगदीश का जन्म मैमनसिंग में हुआ था, इसलिए उस गाँव में आयोजित इस सम्मेलन का अध्यक्ष पद उन्हें देने का उचित निर्णय हुआ था।

बसु का यह सम्मान किया गया। न केवल वे चोटी के वैज्ञानिक थे इसलिए, बल्कि वे बंगाली साहित्यिक थे इसलिए भी। मातृभूमि जैसा ही उनका मातृभाषा से भी प्यार था। रवींद्रनाथ के साथ उनकी दोस्ती बनी थी, उसमें यह एक महत्त्व का कारण था। प्यार के आगे चलकर स्वभाषा का गर्व एवं उसकी अभिवृद्धि की आस उन्हें थी। भगवानचंद्र ने प्राथमिक शिक्षा के लिए उन्हें बंगाली माध्यम की पाठशाला में भरती किया था। वे संस्कार बीज बड़प्पन में ऐसे अंकुरित हुए थे। उस समय के इंग्लैंड में शिक्षित लोग केवल अंग्रेजी में ही लिखते थे—निजी पत्र भी! इस स्थिति में जगदीशचंद्र के रवींद्रनाथ को लिखे सभी पत्र बँगला भाषा में हैं, यह महत्त्व की बात है। न केवल पत्र, अपितु सन् 1894 से उन्होंने बँगला में काफी लेखन भी किया। भागीरथी के उद्गम की खोज में किए प्रवास का वर्णन 'भागीरथीर उत्स संधाने' इस लेख में सन् 1894 में 'वासी' में (जिसका बाद में 'प्रवासी' नामांतर हुआ) प्रकाशित हुआ। यह सुंदर वर्णन बसु की भगिनी ने लिखा होगा, ऐसा प्रफुल्लचंद्र राय जैसे उनके निकटवर्ती को भी लगा। उसी वर्ष उनके और आलेख प्रकाशित हुए। 'युक्ताकार' (नमन के लिए जोड़े हाथ) लेख में अजंता के चित्र देखकर उनके मन में जो भावनाएँ जागीं वे शब्दांकित हैं। 'आकाश-स्पंदन ओ आकाश-संभव जगत्' तथा 'गाच्छेर कथा' ये दो वैज्ञानिक लेख हैं। आगे चलकर उन्होंने 'उद्भिदेर जन्म ओ मृत्यु', 'अदृश्य

आलोक', 'आहत उद्भिद', 'स्नायुसूत्रे उत्तेजनप्रवाह' जैसे वैज्ञानिक लेख तथा 'पलतक तूफान' जैसी व्यंग्यात्मक विज्ञान कथा का भी लेखन किया। उन्होंने बँगला में अनेक व्याख्यान भी दिए—साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से, साहित्य परिषद् के अध्यक्ष के रूप में, औद्योगिक परिषद् के अध्यक्ष पद से आदि। उनका यह सब बँगला साहित्य सन् 1921 में 'अव्यक्त' ग्रंथ में प्रकाशित हुआ। ऐसे भाषा-प्रेमी, भाषा-सेवक तथा भाषाभिमानी का उचित गौरव उसे साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष पद देकर बंगाल साहित्य परिषद् ने किया।

अपने गाँव में जनमे और अब विश्वविख्यात बने जगदीश बाबू का भाषण सुनने मैमनसिंग वालों की भारी भीड़ एकत्र हुई। आयोजकों को इसका पहले से ही अंदाजा था, इसलिए उन्होंने जल्दी से एक बैठक बुलाकर भाषण के लिए शुल्क लेने का निश्चय किया। स्वागत-समिति के अध्यक्ष महाराजा कुमुदचंद्र सिंह ने बसु को इस निर्णय से अवगत कराते समय कहा, "अगर 100 रुपए शुल्क भी रखा गया तो भी सभागृह भर जाएगा!" बसु ने यह विचार साफ ठुकरा दिया, "साहित्य-सम्मेलन का भाषण मात्र अमीरों के लिए नहीं है—सभी के लिए है। आवश्यकता पड़ने पर मैं दो बार भाषण करूँगा; लेकिन किसी प्रकार का शुल्क नहीं होना चाहिए।" और सचमुच ही उन्होंने दो बार भाषण किया—14 अप्रैल को बँगला में, तथा 15 अप्रैल को अंग्रेजी में। बँगला में आम जनता के सामने बोलते समय उन्होंने भाषा आसान रखी तथा पारिभाषिक शब्दों का उपयोग नहीं किया। 'विताने साहात्र' शीर्षक के अपने इस भाषण में उन्होंने कहा, "एक कवि एवं एक वैज्ञानिक की कार्यशैली में काफी समानता होती है। जो वर्णनातीत है, उसे कवि अपने अंतश्चक्षुओं से देखता है और उसे शब्दों में प्रकट करने का प्रयास करता है। जहाँ अन्यों की दृष्टि नहीं पहुँच सकती, उस क्षेत्र में उसकी कल्पनाएँ विहार करती हैं तथा वह अज्ञात दुनिया उसके काव्य से हमारे सामने साकार हो जाती है। किसी वैज्ञानिक की कार्य-पद्धति भी इससे भिन्न नहीं होती। वह भी अज्ञात के राज्य में ही घूमता रहता है। अश्रुत का संदेश सुनता है, व्यक्त के परे जो गूढ़ अव्यक्त होता है, वह उसके अनुभव का नियम बनता है। वैज्ञानिक पद्धति से वह उस अज्ञात को, अव्यक्त को ज्ञान के, व्यक्त के दायरे में लाता है।"

कवि तथा वैज्ञानिक में होनेवाले और एक साथ के बारे में बसु ने आगे विवेचन किया, "ऊपरी वैविध्य के पीछे जो एकता होती है, उसकी खोज इन दोनों का ध्येय होता है। कवि को इस ध्येय की स्पष्टता न होने से भी चल सकता है, किंतु वैज्ञानिकों को नहीं। प्रकृति की इस विशाल इमारत के अनेक खंड हैं। हर बाजू का अपना प्रवेश द्वार है। पदार्थ-वैज्ञानिक आता है और उसके प्रवेश-द्वार से अंदर चला जाता है। वैसे ही रसायन वैज्ञानिक तथा जीव वैज्ञानिक भी। हरेक को लगता है कि मेरा विभाग अलग है, स्वतंत्र है, उसका अन्य विभागों से कोई संबंध नहीं। इस दृष्टिकोण से ही अजीव, वनस्पति एवं सजीव जैसे अमिट भेद अब पैदा हुए हैं। लेकिन ये अनुचित हैं। ज्ञान की प्राप्ति समग्रता से हो, यह किसी भी अनुसंधान का ध्येय होना चाहिए। विभिन्न ज्ञान शाखाएँ निर्मित हुई हैं, वे कुछ तात्कालिक सुविधा के लिए। जिस स्थान पर ये सभी शाखाएँ एकत्र होती हैं, वहाँ संपूर्ण सत्य है, इसका हमें निरंतर स्मरण रहना चाहिए।"

इस वैचारिक भूमि पर खड़े होकर उन्होंने अनुसंधान कैसे किया, उसमें क्या बाधाएँ-रुकावटें आईं, इसका ब्योरा बसु ने बाद में दिया। अगर इच्छाशक्ति दुर्दमनीय है तो परिस्थिति विपरीत होना, अच्छी प्रयोगशालाएँ उपलब्ध नहीं होना आदि कठिनाइयाँ बाधा नहीं बनतीं, ऐसा उन्होंने कहा, "अगर सुसज्जित प्रयोगशाला होने मात्र से उच्च दर्जे का अनुसंधान हुआ करता तो जिन देशों में ऐसी प्रयोगशालाओं पर लक्षावधि का खर्चा किया गया है, वहाँ से प्रतिदिन नई खोजों की खबरें आनी चाहिए थीं।" लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इसलिए उठो, मन का आलस्य त्याग दो। दुर्बलता का दमन करो! हम जहाँ हैं, वहाँ से हमें आरंभ करना है। भारत ही हमारी कर्मभूमि है। हमें यहाँ कुछ भव्य निर्माण करना है। सच्ची प्रयोगशाला है हमारा मन। वह साफ व शुद्ध होना चाहिए। व्यक्तिगत लाभ का विचार इसमें नहीं होना चाहिए। जो वित्तेषणा, लोकेषणा से कार्य करते हैं, उन्हें सत्य का ज्ञान कभी नहीं होता। और जो सत्य-प्राप्ति के लिए, शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं, वे विपरीत परिस्थिति से अछूत रहते हैं।"

बसु ने अपना जीवन-तत्त्व ज्ञान ही श्रोताओं के सामने कथन किया।

बसु अब चौथी पुस्तक का विचार करने लगे। दो वर्षों में कई प्रयोग हुए थे, काफी सामग्री हाथ में थी। वनस्पतियाँ प्रतिसाद-क्षम हैं, यह अब निश्चित रूप से कहा जा सकता था। 'Researches on Irritability of Plants' का लेखन आरंभ हुआ। वह काम भी निवेदिता ही करती थीं। वे उत्साह से परिपूर्ण थीं। स्वयं के तीन ग्रंथों का लेखन तथा बीच-बीच में प्रासंगिक लेखन के चलते भी बसु के ग्रंथ के लेखन के लिए उनके पास भरसक उत्साह था। वैसे तो वह किसी पराए की पुस्तक थी ही नहीं, मानो उनकी ही चौथी पुस्तक थी!

गरमी के अवकाश में बसु दंपती के साथ वे मायावती गईं। वहाँ ग्रंथ लेखन काफी आगे बढ़ा। मायावती के रामकृष्ण आश्रम में बसु का एक भाषण भी हुआ। जून में सब कलकत्ता लौटे।

कलकत्ता लौटने पर एक के बाद एक प्रियजनों के निधन की खबरें आने लगीं। 25 जुलाई को विवेकानंद की माँ का देहांत हुआ तो 27 को नानी का। ओलिया बुल चल बसा था 18 जुलाई को, वह खबर लगभग उसी समय निवेदिता तक पहुँची। 21 अगस्त को स्वामी रामकृष्णानंद का देहांत हुआ।

निवेदिता को लगा कि वे भी इसी मार्ग पर आगे चल रही हैं! 5 सितंबर को गुरुभगिनी मैक्लिऑड को लिखे पत्र में वे कह रही हैं, "13 वर्ष पूर्व मैं यहाँ आई, उस समय की कई मधुर स्मृतियाँ आज मेरे मन में उभर रही हैं। जीवन की शाम के समय अतीत की मधुर तरंगों से मन भारी हुआ है। स्वामीजी इसे ही 'जीवन-मृत्यु के अतीत की स्थिति' कहा करते थे।" निवेदिता के इस काल में लिखे 'बिलवेड', 'डेथ', 'प्ले' जैसे लेखों में भी ऐसी ही भावनाएँ व्यक्त हुई हैं।

अक्तूबर में दुर्गा-पूजा की छुट्टी पड़ी और वे बसु दंपती के साथ दार्जिलिंग जाने निकली।

परिवार के सभी लोगों से मिलकर उनकी बिदाई लेना। उन्होंने चाहा। वे शारदा माँ के घर गईं। वे देहात में गई थीं, योगिन माँ वहाँ थीं। उनके पाँव छूने पर निवेदिता बोलीं, "मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं वापस नहीं आऊँगी।"

"ऐसा क्यों कहती हो?" माँ ने पूछा।

"वो मुझे पता नहीं।" निवेदिता बोलीं, "किंतु यह सब अंतिम है, ऐसा मुझे महसूस हो रहा है।"

वे तीनों दार्जिलिंग आए। इस छुट्टी में 'संदक फू' चोटी पर जाने का उनका विचार था। किंतु, प्रयाण वाले दिन ही निवेदिता आमांश से बीमार हो गईं। भारी मात्रा में खून जाने लगा। कलकत्ता के प्रसिद्ध चिकित्सक, बसु के मित्र, डॉ. नीलरतन सरकार उस समय दार्जिलिंग में ही थे। तुरंत आकर उन्होंने उपचार आरंभ किए, किंतु आराम नहीं हुआ। मिलने के लिए आनेवालों का निवेदिता प्रसन्नमुख से स्वागत तो करतीं, लेकिन उनकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी। अंतकाल समय आने का स्पष्ट ज्ञान उन्हें हो रहा था।

13 अक्तूबर की रात समाप्त होकर प्रकाश छँटने लगा। आकाश में रक्तिमा फैल गई। निवेदिता अत्यंत क्षीण हो गई थीं। अबला दी की गोद में सिर रखकर वे सोई थीं। पूर्व की ओर देखकर वे बोलीं, "यह क्षीण की नौका अब डूबने वाली ही है, फिर भी मैं उगते सूरज के दर्शन करके ही जाऊँगी!"

वे जैसे ही यह बोलीं, सूरज उगा और उसकी किरण खिडकी से अंदर आई। उसी क्षण निवेदिता की आत्मा जीवन-मृत्यु के पार चली गई।

जगदीश, अबला दी हताश हो गए। किंतु, अपने आपको सँभालकर अंतिम संस्कार की तैयारी में लगे। किसी एक को संदेश दिया, उसके द्वारा वह पूरे गाँव में फैल गया। परिचित तथा अन्य लोग अंतिम दर्शन के लिए आने लगे। दोपहर अंतिम यात्रा निकली। राख लेकर रात को सब वापस आए।

जगदीश दा हिम्मत हार गए। उनके एक बच्चे/अपत्य का बचपन में ही देहावसान हो गया था। उसके बाद निवेदिता ही उनकी कन्या थीं। न केवल कन्या, अपितु और भी कुछ। कहाँ जनमी ये मार्गरेट नाबेल, संन्यासिनी बनकर 'भगिनी निवेदिता' हुईं भारत आईं, इस राष्ट्र से प्यार करके यहीं रहीं। मात्र 13 वर्षों का संबंध, किंतु कितने निकट हो गए। रिश्ता! वो कभी कन्या थी तो कभी छोटी बहन। कभी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली परिचारिका तो कभी विश्‍वास दिलानेवाली सहकारिणी, कभी मन की उदासी दूर करनेवाली सहेली, तो कभी ग्रंथों का लेखन करनेवाली विदुषी—निवेदिता के कई रूप जगदीश दा की आँखों के सामने उभरने लगे।

कितनी अस्वस्थ हुआ करती थी वह मुझ पर होनेवाले अन्याय देखकर! क्रोधित हो जातीं वो—"बसु के साथ चल रहे इस युद्ध में ब्रिटेन के लोगों का व्यक्तिगत एवं सामाजिक

अधःपतन ही दिखाई देता है। इंग्लैंड में जो कुछ उदात्त था, वह सब नष्ट हुआ-सा दिखता है।"

कितना उद्वेग हुआ करता उसको मेरे अपमान से—"हे भारतवर्ष! मेरा देश तेरे संबंध में जो अन्याय कर रहा है, उसे कौन उखाड़कर फेंक देगा? तेरे वार एवं बुद्धिमान सपूतों पर प्रतिक्षण होनेवाले अन्याय की आपूर्ति कौन करेगा?"

कितना गर्व था उसे मेरे कार्य पर! रवि को उसने लिखा, "एक महान् असामान्य अनुसंधानकर्ता को मामूली बातों से, उसके मार्ग में बाधाएँ डालकर जिस तरह से संत्रस्त किया जाता है, वह देखकर में भय-चकित हुई। महाविद्यालय के दैनिक कार्य में उन्हें इतना जकड़कर रखा गया था कि अनुसंधान के लिए समय ही न मिले। इस पर हावी होकर उन्होंने अनुसंधान किया, यश प्राप्त किया, यह एक चमत्कार ही मानना पड़ेगा। ऐसे एक वैज्ञानिक के लिए अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस या जर्मनी कुछ भी गँवाने के लिए तैयार होंगे।"

कितने कष्ट उठाए उसने मेरा कार्य दुनिया के सामने लाने के लिए! मेरी पुस्तक उसने लिखी, संपादन किया। सारा बुल से प्रकाशन हेतु पैसा उसी ने प्राप्त किया। 'अनुसंधान-संस्था हेतु 3,000 पौंड की रकम मृत्यु-पत्र में मेरे दोस्त के लिए रखना'—ऐसा सारा को बताकर निजी अनुसंधान-संस्था का मेरा सपना साकार करने की नींव उसने रखी।

और पिछली वर्षगाँठ को उसने जिनेवा से पत्र भेजा! मेरी तुलना कोलंबस से करनेवाली—"आप सदा यशस्वी रहें। मानव जाति को प्रकाश दिखाएँ—मार्ग दिखाएँ।" ऐसी शुभकामनाएँ देनेवाली।

तेरी शुभकामनाओं से यह सब होगा भी, लेकिन तुम क्यों नहीं ठहरीं निवेदिता, यह सब होते देखने को?

गत 13 वर्षों का पूरा जीवन-पट बसु की आँखों के सामने से गुजरा, किंतु जिसमें निवेदिता नहीं थीं, ऐसी एक भी घटना नहीं थी।

लेकिन 13 अक्तूबर, 1911 से जिसमें निवेदिता हो, ऐसा एक भी प्रसंग नहीं होने वाला था। यह वास्तव में अतीव दारुण था। सहना मुश्किल था। किंतु उसे स्वीकारने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं था। वे मुरझा गए, हिम्मत हार बैठे। आगामी कई महीने—नहीं, वर्ष—वे उसी मनोवस्था में थे। उनके स्वास्थ्य पर भी इसका दुष्परिणाम हुआ।

सन् 1913 में भगिनी ख्रिस्ताइन ने मैक्लिऑड को लिखा है, "डॉ. बसु का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य अब वैसे तो ठीक है। उन्हें भी हमें छोड़कर चले जाने का भय अब नहीं रहा है। लेकिन वे भारी उदासी महसूस करते हैं। वे हमेशा कहते हैं, 'समय कैसे बिताऊँ? यही समझता नहीं।' मॉरगॉट (मार्गरेट/निवेदिता) ने उन्हें उत्साह, प्रेरणा, मदद, सहानुभूति—सबकुछ दिया। उसके जाने से बसु के जीवन में कितनी रिक्तता पैदा हुई होगी, इसकी कल्पना तुम कर पाओगी।"

निवेदिता की मृत्यु का घाव बहुत ही गहरा था। वह कभी पूरा ठीक हुआ ही नहीं। समय के लेप से ऊपर-ऊपर वह सूख गया, किंतु अंदर उसकी वेदना कभी मिटी नहीं।

दार्जिलिंग से बसु दंपती निवेदिता के बिना ही कलकत्ता लौटे। पूजा की छुट्टी समाप्त हुई और नित्य कर्म आरंभ हुए—अध्यापन, अनुसंधान एवं ग्रंथ लेखन। धीरे-धीरे उनकी मनःस्थिति सामान्य होती गई।

सन् 1912 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सराहनीय अनुसंधान कार्य के लिए बसु को सम्मान स्वरूप 'डॉक्टर ऑफ साइंस' की उपाधि प्रदान की। उसी वर्ष इंग्लैंड में जॉर्ज पंचम राज्यारोहण करने वाले थे। उस समय भारत सरकार ने उन्हें 'Commander of the Star of India' (C.S.I.) की उपाधि से सम्मानित किया।

कुछ वर्ष पहले ऐसी ही उपाधि प्राप्त होने पर जगदीशचंद्र ने रवींद्रनाथ को व्यंग्यात्मक तरीके से उसकी जानकारी दी थी। इस बार ऐसा हुआ नहीं। न जाने क्यों, लेकिन गत कुछ वर्षों से उन दोनों में एक अंतराल पैदा हुआ था। पत्राचार रुक गया था, शायद मुलाकातें भी। इसके कारण अज्ञात हैं! उनके बारे में न जगदीश बाबू ने कभी कुछ लिखा है, न रवींद्रनाथ ने। अंततः दिसंबर 1912 या शायद जनवरी 1913 में रवींद्रनाथ ने जगदीश को अमेरिका से पत्र लिखा, जिससे यह असंवाद समाप्त हुआ, "तुम्हारा पत्र न आने पर मैं कई महीनों से अस्वस्थ हूँ। हमारी मैत्री के धागे क्यों तथा कितने टूटे हैं, यह मैं नहीं जानता। लंबे समय से मुझे इसका दुःख है। मैं यातनाओं से गुजर रहा हूँ। अंततः मैंने सोचा कि हम दोनों में गलतफहमी का कुहरा निर्माण हुआ है, उसके स्वयं समाप्त होने तक शांत रहना ही उचित है। अब कई वर्षों बाद मैं मातृभूमि लौटूँगा, तब हमारे मन एक-दूसरे के बारे में पूरे साफ हुए होंगे।"

सौभाग्य से ऐसा हुआ था।

इसके तुरंत बाद रवींद्रनाथ को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सभी भारतवासियों के लिए यह गर्व का क्षण था। रवींद्रनाथ का वाङ्मय वैश्विक ऊँचाई का है, यह जगदीशचंद्र जानते थे। रवींद्रनाथ की कुछ कथाएँ एवं कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद करके उनका सामूहिक पठन करने का प्रयास जगदीश ने सन् 1899-1900 में किया था, यह तो हमने देखा ही है। रवींद्रनाथ ने 'गीतांजलि' का स्वयं अंग्रेजी अनुवाद किया और वह लेकर वे 1912 में पश्चिम गए। उस साहित्य की ऊँचाई की पहचान होते ही उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

इस समाचार से बसु फूले न समाए। उन्होंने तुरंत एक बधाई पत्र लिखा—

हस्तलिखित बंगाली पत्र :
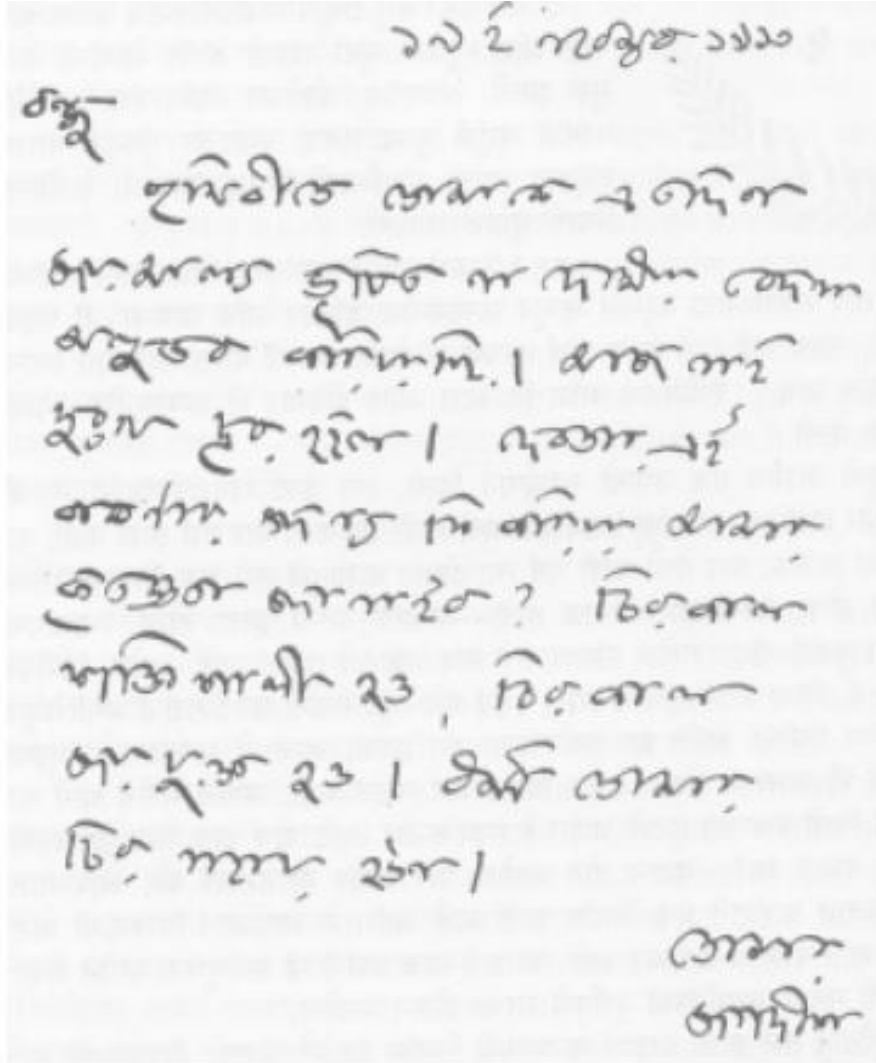
"दोस्त, तुम्हें इतने दिन जयमाला के बिना रहना पड़ा, इसकी वेदना मुझे नित्य चुभ रही थी। आज वह दूर हुआ। इस भगवत्कृपा के लिए मैं किस प्रकार से कृतज्ञता व्यक्त करूँ? तुम चिरकाल शक्तिशाली रहो। धर्म तुम्हारा नित्य सहायक हो। तुम्हारा—जगदीश।"

जगदीश दा इतने पर ही नहीं रुके, कलकत्ता के रवींद्र-प्रेमी, स्नेही इनको वे एक विशेष रेलगाड़ी से शांति निकेतन ले गए। वहाँ रवींद्रनाथ को सम्मानित करके उन्हें शुभकामनाएँ दीं।

'Researches on Irritability of Plants' का लेखन पूरा हुआ। सन् 1913 में वह प्रकाशित हुआ। यूरोप-अमेरिका में उसका अच्छा स्वागत हुआ। इससे पहला ग्रंथ प्रकाशित होकर सात वर्ष बीत चुके थे। इस अवधि में बसु द्वारा किया अनुसंधान जानने के लिए वहाँ के वैज्ञानिक उत्सुक थे। ग्रंथ पढ़ने पर तो बसु के उपकरण एवं उनके द्वारा नापे गए प्रतिसाद वे

प्रत्यक्ष ही देखना चाहने लगे। जगह-जगह से बसु को आमंत्रण आने लगे। उसी वर्ष पंजाब विश्वविद्यालय ने तीन व्याख्यानों की एक माला के लिए उन्हें आमंत्रित किया। व्याख्यान का 1,200 रुपए का मान किसी अनुसंधानकर्ता को पाठ्यवृत्ति देने हेतु बसु ने वापस कर दिया।

सन् 1913 में बसु 55 वर्ष पूरा करने वाले थे। शासकीय नियमों के अनुसार यह अवकाश-ग्रहण की उम्र थी। लेकिन उनके अतुलनीय कार्य के सम्मान में शासन ने उनकी सेवानिवृत्ति दो वर्ष के लिए आगे कर दी। अब वे 1915 तक सेवा में रहने वाले थे।

सन् 1913 के दिसंबर में 'Royal Commission Public Services in India' के समक्ष वक्तव्य देने के लिए बसु को आमंत्रित किया गया। अपने स्वभाव के अनुसार अपना मत उन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। समान पात्रता धारण करनेवाले भारतीय एवं यूरोपीय प्राध्यापकों की श्रेणी एवं वेतन में भेद नहीं होना चाहिए, उच्च शिक्षा का स्तर ऊपर उठाने हेतु अनुसंधान-कार्य को बढ़ावा मिलना चाहिए, भारतीय विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा लेनेवाले छात्रों को पश्चिमी विश्वविद्यालयों में जाने के, वहाँ का अनुसंधान-कार्य देखने के अवसर अधिक संख्या से मिलने चाहिए आदि।

बसु को यूरोप से आनेवाले आमंत्रणों की संख्या अब काफी बढ़ गई थी। यह देखकर शासन ने सन् 1914 में उन्हें चौथी बार यूरोप-अमेरिका भेजने का निर्णय किया।

इस बार बसु छुई-मुई, 'डस्मोडियम' आदि वनस्पतियों के अनेक पौधे साथ में लेते गए थे। यात्रा के दौरान उनमें से कई मर गए। लेकिन बचे पौधों के लिए लंदन में एक हरितगृह का निर्माण किया गया, जिसके उष्णदेशीय वातावरण में वे ठीक रहें।

इस दौरे में उनके ऑक्सफोर्ड तथा कैंब्रिज में सप्रयोग व्याख्यान हुए। रॉयल इंस्टीट्यूशन द्वारा उन्हें तीसरी बार 'शुक्रवार शाम के व्याख्यान' के लिए आमंत्रित किया गया। लंदन की 'रॉयल सोसाइटी ऑफ मेडिसिन' ने भी उनका व्याख्यान आयोजित किया। विषय था—'The Action of Drugs on Plants'। उसे सुनने पर तथा प्रयोग देखने पर सर लॉडर ब्रटन ने कहा, "मैंने पिछले 30-40 वर्षों में शरीर-शास्त्र के जो प्रयोग देखे, वे आपके इन प्रयोगों की तुलना में बालवत् थे। प्राणी एवं वनस्पतियों की प्रक्रियाएँ कितनी समान हैं, यह आपने उत्कृष्ट तरीके से दिखा दिया है।"

'नेशन' समाचार-पत्र के प्रतिनिधि ने बसु की प्रयोगशाला को भेंट दी और वनस्पतियों की 'यातनाओं' को इस तरह से शब्दांकित किया—

"एक उपकरण में एक दुर्भागी गाजर पट्टों से बँधा हुआ था। सफेद द्रव से भरी दो नलियों से निकली दो तारें उसमें घुसेड़ी हुई थीं। जब उस गाजर की एक बाजू चिमटे से दबाई गई, तब उस बेचारे ने अपना अंग अकड़ लिया। ऐसा होते ही उसे बँधे एक धागे ने एक आइने को घुमाया। इस आइने पर एक प्रकाश की किरण डाली हुई थी, जिसका प्रतिबिंब सामनेवाली दीवार पर पड़ा था। आइना घूमते ही वह प्रकाश बिंदु दीवार पर 7-8 फीट

इधर का उधर हो गया। गाजर को दूसरी ओर दबाने पर वह उलटी दिशा में 7-8 फीट हिला। गाजर जैसी 'बुद्धू' सब्जी को होनेवाली वेदनाएँ इस तरीके से अतिशयोक्ति रूप में प्रकट करने का सामर्थ्य विज्ञान में है।

एक दिन बसु की प्रयोगशाला देखने हेतु प्रसिद्ध विचारक एवं साहित्यकार जॉर्ज बर्नार्ड शॉ आए। वे प्राणीहत्या के विरोधी और उसी कारण शाकाहारी थे। बसु ने उन्हें वनस्पतियों को मृत्यु के समय होनेवाली यातनाएँ दिखा दीं। उबलते पानी में उन्होंने एक गोभी डाली और उसे होनेवाली यातनाओं को मापक पर दिखाया। यह सब देखने पर शॉ अत्यंत प्रभावित हुए। अपना संकलित वाङ्मय उन्होंने बसु को अर्पित किया। उस पर लिखा था—'From The Least to the Greatest Living Biologist'।

ऐसे ही एक दिन सर विलियम क्रुक्स प्रयोगशाला में आए तथा पश्चात्ताप से भरे शब्दों में बोले, "रॉयल सोसाइटी द्वारा आपके निबंध प्रकाशित न होने के लिए मैं ही कारण हूँ। समिति में मत-विभाजन के समय दो पक्षों के मत समान हुए। उस समय अपना निर्णायक अध्यक्षीय मत मैंने आपके विरोध में दिया। आपके निष्कर्ष 'पौर्वात्यों की आध्यात्मिक वल्गनाएँ' हैं ऐसा उस समय मुझे लगा। किंतु, उनकी वैज्ञानिक सत्यता के बारे में मुझे अब जरा भी संदेह नहीं है। इस तरह रॉयल सोसाइटी के मन में जो गलतफहमियाँ थीं, वे दूर हो गईं। मन साफ हो गए। वैसे तो बसु के निबंधों पर लगाई पांबदी सोसाइटी ने पूर्व ही हटा ली थी।

इंग्लैंड से बसु ऑस्ट्रिया गए। वियना वनस्पति-विज्ञान के अनुसंधान का एक अग्रणी स्थान था। लेकिन वहाँ के जर्मन एवं ऑस्ट्रियाई वैज्ञानिकों ने भी इस अनुसंधान के क्षेत्र में कलकत्ता हमसे कोसों आगे है, ऐसा सहमति से घोषित किया।

वियना में ही एक संस्मरणीय प्रसंग घटा। जर्मनी होकर वियना जाते समय मार्ग में लाइप्रस नामक शहर आता है। वहाँ फेफर नामक एक प्रसिद्ध जर्मन वनस्पति-शास्त्री रहते थे। वे 50 वर्षों से इस विषय में ही कार्य कर रहे थे। लेकिन बसु के कई प्रतिपादन फेफर के विपरीत थे। फेफर तथा हाबेरलंट को 'वनस्पतियों का संवेदना-प्रेषण प्राणियों की तंत्रिका तंत्र जैसा ही होता है', यह सिद्धांत मान्य नहीं था। बसु यह जानते थे। इसलिए 'क्यों वहाँ जाकर झगड़ा करें', ऐसा सोचकर बसु लाइप्रस होकर विएना जाते हुए भी उधर नहीं रुके। फेफर को यह मालूम पड़ने पर उन्होंने एक दूत विएना भेजा और बसु को लाइप्रस बुलवा लिया। मुलाकात के दौरान वृद्ध फेफर बसु से बोले, "आपका नया अनुसंधान मुझ तक देरी से पहुँचा। आप यशस्वी रहेंगे, किंतु आपका यश देखने को मैं शायद जिंदा नहीं रहूँगा।"

इस प्रसंग का वर्णन करते हुए बसु कहते हैं, "जो शत्रु होगा, ऐसे लगा, उसने उतने सौहार्द से मेरा स्वागत किया। अपने सिद्धांत गलत साबित हुए, इस दुःख से 'सत्य प्रकट हुआ', इसका उन्हें विशेष हर्ष हुआ। कितनी उदार मनोवृत्ति है यह! तीन सहस्र वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र पर भीष्माचार्य ने यह उदात्तता हमें सिखाई। बाणों से जख्म खाते हुए भी वे बोले थे, 'ये बाण शिखंडी के नहीं, अपितु अर्जुन के हैं। मैंने उसे जो विद्या दी, वह आज फलीभूत हुई।'

मरण यातनाओं से इस बात का हर्ष ही उन्हें अधिक था।"

यूरोप से बसु अमेरिका गए। वहाँ के भाषणों से, प्रयोगों की प्रस्तुति से, कृषिवेत्ता काफी प्रभावित हुए। 'The New York Tribune' ने 10 जनवरी, 1915 के अंक में लिखा—"इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग ऐसा है कि विष एवं प्रतिविषों के कार्य की अब अधिक अच्छी जानकारी हमें मिल सकेगी। वनस्पतियों की हानि करनेवाले द्रव्यों का अध्ययन करते समय उनके प्रतिद्रव्यों के अध्ययन का क्षेत्र अब खुलने वाला है।"

बसु के 'मेस्कोग्राफ' की स्तुति करते समय 'साइंटिफिक अमेरिकन' नामक विश्व-प्रसिद्ध पत्रिका ने अप्रैल 1915 में कहा, "कल्पना भी नहीं की जा सकती ऐसी संवेदनशीलता होनेवाले इस उपकरण की सहायता से प्रयोग करते समय इस भारतीय वैज्ञानिक ने वनस्पतियों के तंत्रिका तंत्र का पता लगाया है।

"इससे न केवल वनस्पति-शरीर-शास्त्र में, अपितु चिकित्सा, कृषि जैसे विज्ञानों में भी एक क्रांति होने वाली है।...डॉ. बोस का मेस्कोग्राफ अलादीन के जादुई चिराग से भी अधिक आश्चर्यकारक है। इसके द्वारा वनस्पतियों पर होनेवाले स्वाद, विद्युत्धारा एवं अन्य उत्तेजकों के परिणामों का ज्ञान 10-15 मिनटों में निश्चित रूप से हो जाता है।"

बसु के व्याख्यान एवं प्रयोगों को अमेरिका में काफी प्रसिद्धि मिली। 'न्यू यार्क टाइम्स' ने 'Song to sensitive plants' शीर्षक का एक काव्य प्रकाशित किया। अमेरिका में जिन महान् व्यक्तियों से बसु मिले, उनमें एक थे अलेक्सांद्रे बेल—दूरभाष के अनुसंधानकर्ता।

लौटते समय बसु पत्नी सहित जापान गए। वहाँ वासेदे विश्वविद्यालय में जगदीशचंद्र का व्याख्यान हुआ। जापान में वे कई वैज्ञानिकों से मिले। जापान की परिश्रमी जनता तथा औद्योगिक प्रगति देखकर वे प्रभावित हुए। वह चित्र देखने पर उनके मन में भारत संबंधी विचार आना स्वाभाविक था। वे लिखते हैं, "भारत को एक ही समय आर्थिक कठिनाइयों का भी सामना करना है तथा दूसरी ओर प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों को विनाशकारी बाह्य आक्रमणों से बचना भी है। एक ओर 'नित्य वर्धनशील यांत्रिक कार्यक्षमता' ही जीवन का अंतिम लक्ष्य बन रहा है तो दूसरी ओर खतरा है आलस्य भरे, संघर्षहीन, परोपजीवी जीवन का। राष्ट्रभक्ति के उदात्त आह्वान से ही हम उच्चतम मूल्य अपने आचार-विचार में ला पाएँगे। ऐसी राष्ट्र-निष्ठा के कारण ही जापान प्रगति की उड़ान ले सका, यह गत 7-8 दशकों का इतिहास है।"

जापान से लौटते समय बसु श्रीलंका में रुके। बौद्ध धर्म से संबंधित पवित्र स्थलों के उन्होंने दर्शन किए। फिर खाड़ी पार करके वे रामेश्वरम् आए। वहाँ से मदुरै, तंजावुर, तिरुचिरापल्ली आदि स्थानों के मंदिर उन्होंने देखे।

वे कलकत्ता लौटे, तब तक उनके अवकाश ग्रहण का दिन समीप आ चुका था—नवंबर 1915। नौकरी के प्रारंभ में सरकार ने कम वेतन देकर उन्हें एक धक्का दिया था। अब समाप्ति के समय सरकार ने दो उलटे धक्के दिए! पहला था 'एमिरेट्स प्रोफेसर' का

सम्माननीय पद उन्हें प्रदान करने का। अगले पाँच वर्ष तक उन्हें संपूर्ण वेतन सम्मान के रूप में दिया जाने वाला था। और दूसरा धक्का यह कि उन्हें सर्वोच्च श्रेणी में काफी वर्ष पहले ही पदोन्नति मिलनी चाहिए थी, ऐसा न सरकार के ध्यान में आया, न बंगाल के शिक्षा-विभाग ने यह बात भारत सरकार के ध्यान में लाई, न बसु अपनी पदोन्नति का सामाचार पढ़ने के लिए राजपत्र पर नजर रखे हुए थे। वे तो ज्ञानोपासना में ही निमग्न थे। लेकिन भारत सरकार के ध्यान में यह बात आने पर उसने उनकी पदोन्नति पूर्वलक्षी प्रभाव से राजपत्र में घोषित की।

अब तो धन की बसु को आवश्यकता भी थी। आयु भर जो सपना वे देख रहे थे, वह अब वास्तव में साकार करने का समय आ चुका था—सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त, स्वायत्त अनुसंधान-संस्था! आम आदमी के लिए अवकाश ग्रहण, यानी कामों से छुटकारा पाकर आराम से जाने का आरंभ! लेकिन जो कुछ महान् ध्येय सामने रखते हैं, वे ठीक जानते हैं कि अवकाश नौकरी से होता है, व्रत से नहीं। और बसु द्वारा स्वीकृत व्रत तो ऐसा था कि उसका समापन मात्र जीवन के साथ ही हो सकता है। अनुसंधान, उससे होनेवाली विज्ञान की प्रगति, करोड़ों को उससे होनेवाला लाभ, उसके होनेवाली राष्ट्र-सेवा—इनसे भला अवकाश कैसे पाया जा सकता है? इस ध्येय पथ पर वे निरंतर अग्रसर रहे। सन् 1901-02 तक यह मार्ग अड़चनों से, रुकावटों से भरा कंटकाकीर्ण था। उसके बाद के 10-12 वर्षों का मार्ग-भ्रमण काफी आसान रहा। और अब तो मानो वे फूलों के गलीचे पर से चल रहे थे! इसका कारण था 'तप'। आरंभ में तप कम था, इसलिए मार्ग में विघ्न-बाधाएँ अधिकतम थीं। जैसे ही उन्हें सहते बसु आगे चलते रहे, तप-तेज बढ़ता गया। इसका प्रत्यय दुनिया को आने लगा। अंत में विघ्नों का स्थान आशीषों ने और विरोध का सहयोग ने ले लिया।

अनुसंधान-संस्था के लिए धन जुटाने के काम में बसु लगे हुए थे, तभी और एक दायित्व उन पर आ पड़ा। बंगीय साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद का। सन् 1916 में परिषद् की वार्षिक कार्यकारी समिति के चुनाव के समय सदस्यों में दो गुट तैयार हुए। एक ओर थे वृद्ध तो दूसरी ओर युवा थे। उनका शक्तिपरीक्षण अध्यक्ष के चुनाव के समय होना लगभग निश्चित हो गया। लेकिन उस हेतु जब सभी एकत्र हुए, तब सभी ने आश्चर्य का सुखद अहसास महसूस किया। दोनों पक्षों का उम्मीदवार समान था। जगदीशचंद्र बसु! विज्ञान के माध्यम से अद्वैतमत प्रतिपादित करनेवाले बसु ने बंगीय साहित्य परिषद् में पैदा हुआ द्वैत भी परास्त कर दिया। सबको साथ में लेकर दो वर्ष तक बसु ने परिषद् के उद्देश्य-पूर्ति हेतु कार्य किया। सन् 1917 में उन्होंने एक विशेष व्याख्यानमाला का आयोजन किया, जिसमें वे स्वयं 'आहत उद्भिद' (जख्मी वनस्पति) विषय पर चित्रवर्धक के साथ बोले। उन्हीं के कार्यकाल में कलकत्तावासियों को यदुनाथ सरकार, विजयचंद्र मजूमदार, चुन्नीलाल बसु, हिरेंद्रनाथ दत्त, हरप्रसाद शास्त्री, मन्मथमोहन बसु, अर्धेंद्र कुमार गांगुली आदि ख्यातनामों के भाषण सुनने का अवसर प्राप्त हुआ।

वर्ष 1917 बसु के लिए संस्मरणीय रहा। उसके आरंभ में ही उन्हें 'सर' उपाधि से सम्मानित

किया गया। अध्यापन एवं अनुसंधान के द्वारा उन्होंने विज्ञान की उन्नति एवं प्रसार के लिए जो अभूतपूर्व कार्य किया, उसके लिए अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् उन्हें यह उपाधि दी गई। इसके उपलक्ष्य में उनके विद्यार्थियों ने उनके सम्मान में एक समारोह का आयोजन किया। इसकी अध्यक्षता की बसु के मित्र एवं सहकारी आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने। उन्होंने कहा, "बसु को मात्र वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ता की दृष्टि से देखना ठीक नहीं होगा।" वे बोले, "उन्हें तो विज्ञान के क्षेत्र में संश्लेषण का, समन्वय का युग आरंभ करनेवाले एक युग-प्रवर्तक की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।"

अपने उत्तर में बसु ने छात्रों को स्वयं के एवं राष्ट्र के प्रति होने वाले कर्तव्यों का पालन करने को कहा। "सीधे तथा दृढ़ खड़े हो जाओ। उक्ति तथा वृत्ति में सुसंगति बरतो। दोहरे मापदंड मत अपनाओ। जो उचित है, वह निर्भयता से बोलो। देश के लिए हमें सम्मान प्राप्त करना है और सुरक्षा तथा शांति भी।"

वर्ष के आरंभ में यह सम्मान तो वर्ष के अंत में दशकों देखे स्वप्न की पूर्णता।

'शासकीय हस्तक्षेप से मुक्त ऐसी स्वयं की अनुसंधान-संस्था हो', यह बसु का पुराना सपना था। जब कभी उनकी अवमानना होती, गुणवत्ता होते हुए भी दबाया जाता, तब हर बार उन्हें यह सपना याद आता। दमनकारी, भेदकारी परकीय सत्ता के विरोध में मन विद्रोह कर उठता। स्वयं को जो भुगतना पड़ा, वह अन्य योग्य युवाओं को न भुगतना पड़े, ऐसा वे चाहते थे।

इस देश में विज्ञान की एक प्राचीन, सर्वक्षेत्रीय परंपरा है तथा उसे आगे ले जाने के सक्षम, उच्च बुद्धिमत्ता धारण करनेवाले युवा भी भारी संख्या में हैं, इन दोनों बातों के बारे में वे आश्वस्त थे। किंतु, क्षीण बनी इस परंपरा का प्रयत्नों से पुनरुज्जीवन करना होगा तथा सुयोग्य प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से युवाओं को उसके संवर्धन-कार्य की ओर आकृष्ट एवं अग्रसर करना होगा, ऐसा भी उन्हें लगता था। मात्र स्वदेशी अनुसंधान-संस्था के माध्यम से ही यह हो सकता है, ऐसा बसु का मानना था। भारत का वैज्ञानिक विकास हो, उसके द्वारा इस देश की प्रगति हो, ऐसा विदेशी राज्यकर्ता कतई नहीं चाहते थे। उन्हें भारत की प्रगति से कुछ लेना नहीं था। इतना ही नहीं, यह देश पिछड़ा ही रहे, इसमें ही उनका स्वार्थ समाया था, ताकि इसे आसानी से लूटा जा सके। इस लूट में उनकी सहायता करनेवाले काले बाबू उन्हें चाहिए थे। मात्र उनके निर्माण के लिए शिक्षा का प्रसार करने में वे उत्सुक थे। इसलिए न सरकार ने विज्ञान तथा यंत्र-ज्ञान के प्रसार के लिए स्वयं कुछ किया, न दूसरे की सहायता हेतु आर्थिक प्रावधान किया। कलकत्ता जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में भी विज्ञान के पाठ्यक्रम नहीं थे। पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान तथा गणित जैसे विषय 'वैकल्पिक' तौर पर लेने मात्र की सुविधा थी। उनकी पाठ्यपुस्तकें काल-बाह्य थीं।

'इस स्थिति में सुधार लाने हेतु हमें कुछ करना चाहिए', ऐसा बहुतों को लगता था। सन्

1869 में ही डॉ. महेंद्रलाल सरकार ने स्वदेशी अनुसंधान संस्था के लिए आर्थिक सहायता करने का लोगों से आह्वान किया था। भरसक प्रयत्नों के बाद सन् 1876 में 'Indian Association for the Cultivation of Science' संस्था की स्थापना करने में वे सफल रहे थे। भारत की ये पहली स्वायत्त अनुसंधान संस्था थी। चंद्रशेखर वेंकटरमण (सी.वी. रामन) यहाँ कार्य करते थे।

इसके बाद प्रयत्न हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान की उच्च शिक्षा की सुविधाएँ निर्माण करने हेतु। इसके लिए गठित 'Science Degree Commission' के सदस्य थे डॉ महेंद्र लाल सरकार, डॉ. पी.के. राय, डॉ. नीलरतन सरकार तथा बसु। इस आयोग ने विश्वविद्यालय में विज्ञान की अलग-अलग विद्या शाखाओं के विभाग स्थापित करने का सुझाव दिया। यह वास्तव में वर्ष 1912 तक होना था! और, ऐसे विभागों की स्थापना के लिए शासन अनुकूल न होने के कारण निजी दानों से 20 लाख रुपए जुटाने पड़े। तारकनाथ पलित तथा रासबिहारी घोष इन दो दाताओं ने मिलकर उस राशि की आपूर्ति की। आगे, स्नाकोत्तर शिक्षा के बारे में भी शासन द्वारा ऐसी ही उदासी बरती जाने के कारण पलित एवं घोष ने और 20 लाख रुपए दिए। लेकिन इन प्रयत्नों के मधुर फल अगले 1-2 दशकों में ही दिखाई देने लगे; चंद्रशेखर वेंकटरमण को नोबेल पुरस्कार मिला, मेघनाद साहा, देवेंद्र मोहन बसु आदि ने अपने अनुसंधान कार्य से नाम कमाया और सत्येंद्रनाथ बसु तो स्वयं आइंस्टाइन के साथ 'बोस-आइंस्टाइन स्टैटिस्टिक्स' विकसित करने के काम में लगे।

इसके मध्य में ही सन् 1905 में कुछ राष्ट्रभक्तों ने 'National Council of Education' की स्थापना की। बसु उसके विज्ञान विषयक परामर्शदाता थे। इसमें से ही 'Society for the Promotion of technical Education' स्थापित हुई। उसने अभियंता एवं तंत्रज्ञों के लिए स्थानीय भाषा में पाठ्यक्रम रचे। इस तंत्र निकेतन का ही आगे चलकर 'बंगाल टेक्निकल कॉलेज' और अब 'जादवपुर विश्वविद्यालय' बना है। आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय द्वारा स्थापित 'बंगाल केमिकल्स' उद्योग तथा कलकत्ता केमिकल्स, डकबॅक, बंगाल पॉटरीज जैसे कई स्वदेशी उद्योगों को इस संस्थान ने ही प्रशिक्षित मानव-संसाधन दिया।

इस दिशा में अगला कदम स्वदेशी, स्वायत्त, परिपूर्ण अनुसंधान संस्थाओं की अपनी एक अनुसंधान संस्था हो, ऐसी बसु की कई दशकों की इच्छा थी। यह कल्पना पहले मन में उभरी अबला दी के। वे जगदीशचंद्र के साथ विदेश जाया करती थीं। वहाँ की संस्थाएँ देखकर उनके मन में यह विचार आया। 'Foreign Travels of a Bangali lady' अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है—"रॉयल इंस्टीट्यूशन में होनेवाले कार्यक्रम एवं चलनेवाले उपक्रम देखने पर भारत में ऐसी संस्था के निर्माण का विचार मेरे मन में आया। उसी समय से ही बोस इंस्टीट्यूट हमारे मन में आकार लेता रहा।"

लेकिन यह कार्य खर्चीला था। लागत काफी बड़ी थी। बहुतों की सहायता के बिना इस शिव धनुष को उठाना असंभव था। बसु दंपती ने अपने इस सपने की पूर्ति के लिए उम्र भर धन बचाया था। उसमें से 5 लाख रुपए जमीन, इमारत एवं उपकरणों के लिए तथा 1 लाख रुपए संस्था के दैनिक संचालन के लिए रखे गए। शासन ने बसु के घर के पास, अपर

सर्क्युलर रोड पर ही जमीन संस्था को बेची। इसके अलावा शासन द्वारा प्रतिवर्ष 1 लाख रुपयों का अनुदान भी मंजूर हुआ।

वास्तु के निर्माण में भारी पैसा लगने वाला था। उसमें अनेक राजा-महाराजाओं ने योगदान किया। मैसूर तथा पटियाला के नरेश, हैदराबाद के निजाम, कासिम बाजार के महाराजा मणींद्रचंद्र नंदा—इन्होंने कुछ लाख रुपयों का दान दिया। महात्मा गांधी ने इस संस्था के निर्माण में काफी रुचि ली। 'यंग इंडिया' के द्वारा उन्होंने बंबई के धनिकों एवं व्यापारियों का आह्वान किया, "कलकत्ता का बोस इंस्टीट्यूट दुनिया की एक अग्रणी संस्था बनने वाली है। उसके संस्थापक ने भारत का नाम पूरी दुनिया में उज्ज्वल किया है। अब अपने पूर्वपरम्परा के अनुसार इस वैज्ञानिक के पीछे खड़े रहने का दायित्व बंबईवासियों पर है।" गांधीजी के इस आह्वान को अच्छा प्रतिसाद मिला। मूलराज खटाव ने सवा दो लाख रुपए दिए। बमनजी ने एक लाख रुपए दान किए। आगे दिसंबर 1928 में गांधीजी को लिखे पत्र में बसु ने कहा है, "ग्यारह वर्ष पूर्व इंस्टीट्यूट की स्थापना के समय आपने जो भारी मदद की, उसका मुझे आज भी स्मरण है।"

वास्तु का नक्शा स्वयं जगदीशचंद्र ने बनाया। 4 एकड़ पर बननेवाली संस्था की इमारत व उद्यान आदि निश्चित किए। इमारतें प्राचीन मौर्य शैली में हैं। अजंता शैली में उन्हें सजाने का काम किया शांति-निकेतन के ख्यातप्राप्त कलाकार नंदलाल बसु ने। रवींद्रनाथ के दो भतीजे—गगनेंद्रनाथ एवं अवनींद्रनाथ—जगदीश दा के स्नेही थे। इन तीनों की कलाकारी से जगदीशचंद्र का घर तथा संस्था सजी है। इमारतों में कई प्रयोगशालाएँ, अध्ययन-कक्ष एवं ग्रंथालय हैं। उपकरण तैयार करने एवं उनके रख-रखाव के लिए एक कार्यशाला है। 1,500 सीटों का एक सभागृह है। वहाँ की अजंता शैली में बनाई कांस्य-रौप्य-सुवर्ण से सजी सूर्य देवता की प्रतिमा सबका ध्यान आकर्षित करती है। उदीयमान रविराज अंधकार के विरोध में अपने दैनिक संघर्ष के लिए सात अश्वों के रथ में सवार होकर निकले हैं। मुख्य भवन के प्रवेशद्वार से अंदर आने पर सामने ही काँच की अलमारियों में बसु के उपकरणों की प्रदर्शनी है।

30 नवंबर, 1917! जगदीशचंद्र की 59वीं वर्षगाँठ। 'बोस इंस्टीट्यूट' का आज उद्घाटन है। सारे भारतवासियों का सिर आज गर्व से उन्नत है। कलकत्ता-वासियों का हृदय हर्ष से फूला नहीं समा रहा है।

लोग आने लगे। भीड़ बढ़ने लगी। उत्सुक नागरिक संस्था देखने घूमने लगे। कोनशिला का अनावरण हुआ। एक महान् वैज्ञानिक द्वारा लिखा समर्पण-वचन पढ़कर सबके मन हिल गए—

"भारतेर गौरव

जगतेर कल्याण कामनार देक्चरणे निवेदन करिलाम

श्री जगदीश बसु

14 अग्रहायण, शक 1324

30.11.1917

भारत को उसका प्राचीन गौरव फिर एक बार प्राप्त हो तथा दुनिया का कल्याण हो, इस हेतु यहाँ अनुसंधान चलने वाला था। दुनिया के विनाश के लिए नहीं, अपितु शांति-पुष्टि के लिए वह चलने वाला था। जगदीश ने विनम्र भाव से यह संस्था भगवान् के चरणों पर समर्पित कर दी।

उद्धाटन का कार्यक्रम आरंभ हुआ। नंदलाल बसु एक संस्मरणीय चित्र बनाकर लाए। 'The Quest' एक पवित्र नदी से 'ज्ञान' प्रकट हुआ है। उसके हाथ में तेज धारवाली तलवार है, सामने आए मुद्दों के टुकड़े कर डालनेवाली। उसकी इस खोज-यात्रा में उसकी सहचारिणी है 'प्रतिभा'। उसके हाथ में है बाँसुरी। 'ज्ञान' एवं 'प्रतिभा'—तर्क प्रज्ञा एवं अंतःप्रज्ञा—इनके सहकार्य से ही अज्ञात की खोज-यात्रा—The Quest—सफल हो सकती है! सभागृह की दीवार पर यह चित्र विराजित हुआ।

फिर रवींद्रनाथ खड़े हुए। इस समारोह के लिए उन्होंने एक विशेष गौरव-गान लिखा था। उसे गाने लगे—

आवाहन सेंटर में

मातृभूमिर पुण्य अंग्ल कर महोज्ज्वल आज है!

शुभ शंख बाजह बाज हे!

घन तिमिर रात्रिर चिर प्रतीक्षा

पूर्ण कर, लह ज्योति दीक्षा,

यात्रिदल सब साज हे!

शुभ शंख बाजह बाज हे!

बोलो, "जय नरोत्तम पुरुष सत्तम"

जय तपस्वीराज हे!

जय हे, जय हे, जय हे!

एस वज्र महासने, मातृ-आर्शीभाषणे,

सकल साधक एस हे, धन्य कर ए देश हे!

सकल योगी, सकल त्यागी

एस दुःसह दुःखभागी

एस दुर्जय शक्ति-संपद

मुक्तबंध समाज हे!

एस ज्ञानी, एस कर्मी नाश भारत-लाज हे!

एस मंगल, एस गौरव

एस अक्षय पूर्ण सौरभ

एस तेजःसूर्य उज्ज्वल

कीर्ति-अंबर भास हे!

वीरधर्मे पुण्यकर्मे

विश्व-हृदये राज हे!

शुभ शंख बाजह बाज हे!

जय नरोत्तम, पुरुषसत्तम,

जय तपस्वीराज हे!

जय हे, जय हे, जय हे!

इसके बाद जगदीश भाषण के लिए खड़े हो गए—"यह अनुसंधान संस्था आज मैं समर्पित कर रहा हूँ। यह मात्र प्रयोगशाला नहीं, अपितु मंदिर है। अपनी दुर्बल एवं सीमित इंद्रियों को विभिन्न उपकरणों का जोड़ देकर मानव अज्ञान के सागर में काफी दूर तक पहुँचा है। फिर भी, विज्ञान की अति-संवेदनशील पद्धति को भी सत्य के कुछ अंश अज्ञात ही रहेंगे, यह निश्चित है। उनके आकलन के लिए आवश्यकता है श्रद्धा की—पूरे जन्म भर जो साथ में है, ऐसी श्रद्धा की, ऐसी ही एक श्रद्धा, एक विश्वास मेरे तथा सभी के मन में है, जिसका स्मरण इस दिन होना अपरिहार्य है। जब कोई अपना जीवन उच्च ध्येय की प्राप्ति हेतु समर्पित करता है, तब अज्ञान के बंद दरवाजे अपने आप खुल जाते हैं और अन्य परिस्थिति में जो असंभव लगता है, वह संभव हो जाता है।"

फिर बसु ने इसी दुर्दमनीय श्रद्धा के कारण उनके लिए अज्ञान के कुछ दरवाजे कैसे खुल गए, इन अनुभवों का कथन किया। फिर वे बोले, "कभी-कभी तो ऐसे लगा कि मुझे कुचलने के

लिए ही यह विरोध तथा बाधाएँ थीं। किंतु उनसे मेरा निश्चय ही दृढ़ होता गया कि, जो मेरे पीछे आएँगे, उनका मार्ग आसान हो जाएगा और भारत अपने ध्येय की ओर गति से अग्रसर होगा।"

क्या था भारत का ध्येय बसु के विचार से?—"हमारे राष्ट्र के सामने दो उद्देश्य हैं। भारत अंतरराष्ट्रीय स्पर्धा में खींचा जा रहा है। उसे हरेक क्षेत्र में कार्यक्षम होना पड़ेगा—शिक्षा के प्रसार से, नागरिक कर्तव्यों की पूर्णता से, औद्योगिक एवं वाणिज्यिक विचार से। इनमें दोष हुआ तो हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

किंतु ऐसा नहीं कि मात्र इन बातों से राष्ट्र की जीवंतता सुनिश्चित होती है। इन भौतिक क्रियाकलापों से पश्चिम में सत्ता-पिपासा एवं धन-लोलुपता का उदय हुआ है। विज्ञान के क्षेत्र में भी ज्ञान के उपयोजन की जल्दबाजी चल रही है। यह उपयोजन प्रायः विध्वंस के लिए है। इसलिए, सर्वनाश में ही जो परिणत होने वाली है, ऐसी पागल होड़ से मानव को विलग करने वाला कुछ ध्येय होना चाहिए। जीवन की योजना में स्पर्धा से अधिक महत्त्व सहकार्य को, परस्पर-सहायता को है। इसलिए हमारा दूसरा ध्येय बनता है—निरपेक्ष सहकार्य, दान, मानवता के लिए स्वार्थ का त्याग। उस हेतु हमें अपनी क्षुद्रता का त्याग करना होगा। दूसरों की हानि करके स्वयं लाभान्वित होने का विचार जड़ से उखाड़कर फेंकना होगा।

इसके बाद बसु ने अपनी अनुसंधान-संस्था का ध्येय सबको बताया, "वैज्ञानिक प्रगति हेतु अनुसंधान इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य है। उसके साथ ज्ञान का प्रसार भी। इस भव्य सभागृह की योजना उसी हेतु की गई है। नई खोजों की जानकारी जिज्ञासुओं को यहाँ दी जाएगी। यहाँ होनेवाला सभी अनुसंधान प्रतिवर्ष 'ट्रांजैक्शन्स' के रूप में प्रकाशित किया जाएगा। वह सार्वजनिक व बौद्धिक संपदा होगी, कोई भी उसका मुक्त उपयोग कर सकेगा। किसी भी खोज के स्वामित्वाधिकार नहीं लिए जाएँगे। ज्ञान का व्यक्तिगत लाभ हेतु उपयोग करना हमारे राष्ट्र की संस्कृति से मेल नहीं खाता।"

यहाँ के ज्ञान का दुनिया मुक्त उपयोग करे, यह जैसी बसु की उदात्त भूमिका थी वैसे ही दुनिया भर के वैज्ञानिक यहाँ आएँ, ऐसा भी वे चाहते थे। क्योंकि प्राचीन भारत की यह भी एक परंपरा थी। पच्चीस शतक पूर्व नालंदा, तक्षशिला आदि स्थानों पर इसी तरह ज्ञानोपासना एवं ज्ञान-प्रसार चलता था। बसु ने इस परंपरा का भी स्मरण किया।

दशकों से देखते आए स्वप्न की पूर्णता का आनंद बसु छिपा नहीं सके। इस पूरे समय में उनके पीछे दृढ़ता से खड़े रहनेवालों की याद भी उन्हें थी, विशेषकर निवेदिता की। उनका नाम न लेते हुए बसु बोले, "अपने संघर्षमय प्रयत्नों में मैं अकेला कभी नहीं था। जब दुनिया मेरी ओर संशय से देख रही थी, उस समय ऐसे कई थे, जिनका मुझ पर दृढ़ विश्वास था। आज वे शांति नगरी में चिर विश्राम कर रहे हैं। 'बोस इंस्टीट्यूट के प्रवेश द्वार के सामने हाथ में दीया लिये खड़ी एक महिला की प्रतिमा है, वह इस दृष्टि की सूचक है।

इसके बाद बसु ने अनुसंधान संबंधी एक महत्त्व के मुद्दे की चर्चा की—"इन दिनों अनुसंधान-कार्य में विशेषीकरण (Specialization) बढ़ रहा है, यह खतरे की बात है।" उन्होंने कहा, "अति-विशेषीकरण से 'सत्य एक ही है' यह मौलिक बात ही भुला दी जाती है, ऐसा उनका मानना था। पदार्थ-विज्ञान, जीव-शास्त्र, मानस-शास्त्र विशेषीकरण के कारण भिन्न लगते हैं। वास्तव में वे अभिन्न हैं, ऐसा उनका मत था। उनके अनुसंधान से इनके बीच की दीवार कैसी लुप्त हुई, यह बताकर वे बोले, "इस संस्था में ऐसे अनुसंधानकर्ता एकत्र होंगे, जो भासमान भिन्नता के नीचे होनेवाली एकता की खोज करेंगे। भारतीय विचारों की यही शोभा है। यहाँ उसका ही विकास होगा।"

इस अद्वैत की अनुभूति के लिए निरंतर प्रयत्नरत रहने का भारत का संदेश एवं परंपरा है, ऐसा बसु मानते थे।

"अधिकाधिक भौतिक बंधनों में फँसते जाना, यह नहीं अपितु अमरत्व की प्राप्ति हेतु लड़ते रहना, यह भारतीय आत्मा की निरंतर आस है। इतिहास में कई साम्राज्य पैदा हुए और उन्होंने दुनिया पर राज किया, लेकिन आज वे मात्र भूमिगत अवशेषों के रूप में बचे हैं। भारत में ऐसा हुआ नहीं, वह अमर रहा, जीवित रहा। अमरत्व के बीज भौतिकता में नहीं, अपितु विचारों में होते हैं; संग्रह में नहीं, उच्च ध्येय रखने में होते हैं। मानवता का साम्राज्य उभरेगा तो अधिकतम संचय से नहीं, बल्कि सद्विचार एवं उच्च ध्येयों के प्रसार से।"

यह उच्च ध्येय तथा विचार सूचित करनेवाले दो चित्र बसु ने संस्था में प्रदर्शित किए हैं। उनका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे बोले, "इसमें से एक चित्र है अर्ध-आमलकी फल का। प्रवेश द्वार के खंभे पर वह है। राजा अशोक ने जब सर्वस्व दान कर दिया, तब अंत में उसके हाथ में मात्र आँवले का आधा फल बचा। एक याचक को उसने वह भी दान कर दिया। संग्रह के निःशेष दान का यह आदर्श है। दूसरा चित्र है इससे भी आगे जाकर किए हुए दान का, आत्मसमर्पण का आदर्श जगानेवाला, महर्षि दधीच की हड्डियों से बने वज्र का। संस्था की वास्तु के शिखर पर फहरते हुए ध्वज पर यह वज्रचिह्न अंकित है।"

इस वज्रचिह्नांकित ध्वज की मूल कल्पना भगिनी निवेदिता की थी। सन् 1906 में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में कपड़े से बने इस प्रकार के ध्वज का नमूना उन्होंने प्रदर्शनी में रखा था। वज्र भारत की राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक बने, ऐसा निवेदिता की इच्छा थी। दुर्जनों के संहार हेतु अपनी अस्थियों तक का समर्पण करनेवाले महर्षि दधीच के त्याग का स्मरण उससे हो आता है। त्यागी मनुष्य का यही एक अजेय शस्त्र है, ऐसी सूचकता उसमें है। राष्ट्र-निर्माण तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक होनेवाले सर्वस्व के त्याग का स्मरण बसु ने कर दिया और फिर भाषण का आशावादी समापन करते हुए उन्होंने कहा, "अथक प्रयत्न तथा भविष्य पर अडिग विश्वास, इनसे ही कल के भारत का निर्माण होने वाला है।"

30 नवंबर, 1917 को आरंभ हुआ यह कार्य आज तक जारी है। उसमें सहभागी होने हेतु

इंग्लैंड से प्रो. पैट्रिक गिड्से तथा जर्मनी से प्रो. हान्स न्योलिश जैसे गण्यमान्य अनुसंधानकर्ता आए। बसु के साथ उन्होंने सहयोगी अनुसंधान किया। अमेरिका से डॉ. मग्नस् हर्शफील्ड तथा डॉ. जॉर्ज वॉर्ड आए। रूस से प्रो. वेरोनॉर्फ आए। 'नेचर' के संपादक सर रिचर्ड ग्रेगरी आए। बेल्जियम के महाराजा को इस विषय में रुचि थी। वे भी कुछ समय के लिए कलकत्ता में रहे। बसु भी इन राष्ट्रों में अनेक बार जाते रहे और नए अनुसंधान की जानकारी देते रहे। 'ट्राजैक्शंस' के वार्षिक खंड एवं बसु के ग्रंथ—इनमें से भी यहाँ हुए अनुसंधान की जानकारी दुनिया भर में प्रसारित होती रही।

स्थापना के कुछ महीने बाद गांधीजी बसु के मेहमान बनकर रहे। उन्होंने संस्था को देखा, बसु से विचार-विमर्श किया। उनका दृढ़ रिश्ता आगे भी बना रहा।

संस्था, प्रयोग एवं उपकरण देखने हेतु लोग नित्य आते रहते थे। श्री श्री परमहंस योगानंद उद्घाटन समारोह में भी उपस्थित थे तथा बाद में भी एक बार बसु के प्रयोग देखने हेतु संस्था में आए थे। अपने 'योगी-कथामृत' (Autobiography of a yogi) नामक लोकप्रिय आत्मचरित्र में उन्होंने बसु के बारे में गौरव से लिखा है।

कलकत्ता की इस संस्था के साथ ही भविष्य में बसु के दार्जिलिंग, सिजबेरिया एवं फालता के घर भी परिपूर्ण अनुसंधान-संस्था के रूप में विकसित कर दिए गए। अपने सभी घरों के आसपास—ठीक बचपन जैसे—जगदीश दा ने सुंदर बगीचे तैयार किए थे। प्रयोग हेतु विभिन्न वनस्पतियाँ लगाई थीं। अनुसंधान-संस्था के रूप में विकसित हो सके, इस दूरदृष्टि से ही बसु ने इन स्थानों की रचना की थी।

'बसु विज्ञान मंदिर' की स्थापना के लिए बहुतों से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी। उसके सुचारु तथा बाधाहीन कार्यान्वयन के लिए भी बसु को अर्थार्जन करना पड़ा। इसके लिए बसु ने एक मार्ग चुना—सशुल्क व्याख्यानों का। 1 तथा 2 रुपए शुल्क रखकर उन्होंने कई भाषण दिए। सन् 1918 तक इस प्रकार से कलकत्ता में 21,000 तो बंबई में 43,000 रुपए इकट्ठा हुए। 22 जनवरी, 1918 के बंबई के एक ही व्याख्यान में 50,000 रुपए प्राप्त हुए। एक बालिका ने अपने 'मिनी बैंक' में जमा रकम 'देश कार्यार्थ' बसु को दे दी। भाषण में बसु ने उसका विशेष उल्लेख किया।

'क्या स्वदेशी की अस्मिता से साकार हुई यह संस्था शासकीय नियंत्रण तथा हस्तक्षेप से मुक्त रहेगी', इसकी चिंता राष्ट्रीय नेताओं को थी। जमनालाल बजाज उस समय कांग्रेस के कोषाध्यक्ष थे। उन्होंने बसु से पूछा कि "संस्था की स्वायत्तता अबाधित रखने हेतु आपने क्या उपाए किए हैं?" इस पर बसु ने संचालक परिषद् में स्वायतत्ता का प्रस्ताव पारित करवा दिया, और उसकी प्रति जमनालालजी को भेज दी। इस पर जमनालालजी ने लिखा, "इससे हमें अपेक्षित स्वायत्तता सुनिश्चित हुई है। संचालक परिषद् द्वारा हमारा कहना माना गया, इस पर हमें संतोष है।"

इस संबंध में यह बताना उचित रहेगा कि संस्था के कार्य का स्तर बसु ने इतना उच्च रखा

कि परकीय शासन को वार्षिक अनुदान देते रहना ही पड़ा। शासन से अनुदान लेते हुए भी उसे अंदर आने न देने के या हावी न होने देने के बसु के कौशल की तारीफ ही करनी होगी। सभी जगह सरजोरी करनेवाले गोरे शासन को यहाँ सिर झुकाना पड़ा।

राजाओं, धनिकों एवं आम आदमी—सभी की सहायता से निर्मित हुआ यह 'बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट' न केवल बसु के कर्तृत्व का चिह्न था, अपितु समय के अनुसार वैज्ञानिक प्रगति हेतु सिद्ध हुए भारत की भी स्वदेशी अस्मिता की गर्व भरी हुंकार थी। भारत की वैज्ञानिक प्रगति का वह कीर्ति-स्तंभ था।

जगदीशचंद्र के लिए वह एक 'मंदिर' था। एक लेख में वे लिखते हैं, "भारत की प्राचीन, श्रेष्ठ परंपरा के अनुसार 'ज्ञान' एवं 'धर्म' में विरोध नहीं होता। क्योंकि सर्वश्रेष्ठ ज्ञान यही धर्म है। यह प्रयोगशाला ऐसे ज्ञान-प्राप्ति का स्थल होने से मंदिर है। मेरी अनुसंधान संस्था इस विचार से स्थापित हुई। अनुसंधानकर्ता जीवन मानव-कल्याण हेतु ज्ञानार्जन करने में यहाँ अपना समय व्यतीत करें।

'भारतेर गौरव' एवं 'जगतेर कल्याण कामनार' हेतु साकार हुआ 'बसु विज्ञान-मंदिर' का यह शिव-संकल्प।

'बसु विज्ञान-मंदिर की स्थापना जगदीश बाबू के लिए उनके कार्य की इतिश्री नहीं थी, बत्तीस वर्षों से चले आ रहे कार्य का वह मात्र एक प्रतीक था। प्रेसीडेंसी कॉलेज में अध्यापन करते समय भी वे अनुसंधान करते थे। अवकाश-ग्रहण के बाद भी वह जारी था और अब संस्था की स्थापना के बाद भी वह जारी रहा। स्थान बदले, कार्य नहीं बदला। यह अनुसंधान पहले ग्रंथों के माध्यम से वैज्ञानिकों तक पहुँचता रहा, संस्था की स्थापना के बाद सन् 1918 से उसे नया माध्यम प्राप्त हुआ, 'Transactions of the Bose Research Institute' के वार्षिक खंड। इस वैज्ञानिक जर्नलको शीघ्र ही अंतरराष्ट्रीय दर्जा प्राप्त हुआ।

लगभग एक वर्ष में संस्था के सभी काम ठीक तरह से चलने के बाद बसु ने महाराष्ट्र का दौरा किया। इसके दो-तीन उद्देश्य थे। एक था अनुसंधान की जानकारी लोगों को देना, दूसरा था निधि-संकलन और तीसरा था जिन धनिकों ने गांधीजी के कहने पर बड़ी राशियाँ प्रदान की थीं, उनसे मिलना।

बसु के कार्य की लोकमान्य तिलक द्वारा अनदेखी होना असंभव था। 'बोस इंस्टीट्यूट' के उद्घाटन का समाचार 4 दिसंबर के 'केसरी' में प्रकाशित हुआ। उसमें संस्था की तथा बसु के अनुसंधान की जानकारी थी। इसके साथ ही तिलकजी की टिप्पणी भी थी, जिसमें वे कहते हैं, "आपकी संस्था प्राचीन नालंदा, तक्षशिला विश्वविद्यालयों जैसी अर्वाचीन विज्ञानों का विश्वविद्यालय बने, ऐसी बसु की स्पृहणीय महत्त्वाकांक्षा है। वह सफल हो तथा संस्था के द्वारा हिंदी लोगों के बुद्धि का तेज पूरी दुनिया में फैले, ऐसी हमारी कामना है।"

21 जनवरी, 1918 को बसु बंबई पहुँचे। 22 की शाम उनका 'रॉयल ऑपेरा हाउस' में सशुल्क व्याख्यान हुआ। 5 रुपए से लेकर 100 रुपए तक के टिकट थे। व्याख्यान के पहले ही सभागृह पूरा भरा हुआ था। सभा की अध्यक्षता की स्वयं लोकमान्य तिलक ने। आरंभ में बसु के अनुसंधान के बारे में उन्होंने श्रोताओं को जानकारी दी और इसके पश्चात् कहा, "वैज्ञानिक अनुसंधान करनेवाला बसु जैसा दूसरा कोई वैज्ञानिक भारतवर्ष में नहीं है। उन्होंने पश्चिमी वैज्ञानिकों को भी चकाचौंध कर दिया। ऐसा अद्वितीय पुरुष भारत में पैदा हुआ, इसका भारतवासियों को गर्व होना स्वाभाविक है। हम हिंदुस्तानी बौद्धिक ज्ञान के क्षेत्र में किसी से कम नहीं हैं। 'हम पिछड़े हैं', 'हम पश्चिम का अनुकरण करनेवाले हैं।' ऐसे आक्षेप किए जाते हैं। किंतु बसु ने कृति द्वारा ही उनका निराकरण किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि हिंदुस्तान में अनुसंधानकारी बुद्धि के एवं दुनिया को अचंभित करनेवाले

लोग हैं।" इधर तिलक बसु की स्तुति कर रहे थे, उधर लोग तालियों की गड़गड़ाहट कर रहे थे।

इसके बाद बसु बोले। उन्होंने संस्था के निर्माण के लिए बंबईवासियों द्वारा दी आर्थिक सहायता के लिए आभार प्रदर्शित किया और अपने कार्य की जानकारी के विषय की ओर मुड़ते हुए वे बोले, "प्रस्ताविक में मेरे अनुसंधान की जानकारी तिलकजी ने देकर मेरा काम आसान कर दिया है। मेरे कार्य का स्वरूप उन्होंने जितना सुगम एवं स्पष्ट रूप से सामने रखा, उतना शायद किसी व्यावसायिक वैज्ञानिक से भी संभव नहीं होता!" फिर उन्होंने अपने अनुसंधान के बारे में विस्तार से बताया तथा चित्रवर्धक की सहायता से अपने प्रयोगों एवं संस्था की जानकारी दी।

24 जनवरी को ऑपेरा हाउस में ही उनका 'अदृश्य प्रकाश' विषयक भाषण हुआ। उसमें वे अपने भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में किए अनुसंधान के बारे में बोले। फिर अपनी अनुसंधान संस्था के बारे में श्रोताओं को अवगत कराने पर उन्होंने उपस्थित छात्रों से कहा, "हमारी शिक्षा का प्रबंध हमें हमारे राष्ट्र में ही करना होगा। हमारे पूर्वज ज्ञानी थे, यह कहने से हमें कोई सम्मानित करनेवाला नहीं है। 'उत्तमा आत्मनः ख्याताः पितुः ख्याताश्च मध्यमाः'— यह बात हमें ध्यान में रखनी होगी। नया कुछ करके दिखाना होगा और उसके लिए नित्य अनुसंधान करते रहना होगा।" इस समय छात्र संगठन द्वारा उन्हें 1,001 रुपए की थैली दी गई।

25 जनवरी को 'पीसगुड्स मर्चेंट्स' संस्था ने उनका सम्मान किया। अध्यक्षता की सर विट्ठल दास ने। लोकमान्य तिलक एवं लल्लूभाई खामलदास ने भाषण किए। जमनादास ने 2,41,000 रुपए का दान दिया। शाम को 'चायना बाग' में गोंडाल के महाराजा तथा महाराज, सर दिनशा एवं लेडी पोटट, मूलराज खटाव, चुन्नीलाल मेथा आदि ने बसु का स्वागत किया। इस समय बसु ने अपने कुछ प्रयोग प्रस्तुत किए।

28 जनवरी को बसु पुणे आए। फर्गुसन कॉलेज में उनका भाषण हुआ। यहाँ भी छात्रों ने निधि-संकलन करके उन्हें थैली अर्पित की।

बसु के दौरे की समालोचनात्मक टिप्पणी में तिलक ने लिखा—"बंबई विश्वविद्यालय में हुए (31 जनवरी) व्याख्यान के समय गवर्नर महोदय ने बसु का स्तुति-स्तोत्र पढ़ा। लेकिन अंग्रेजी राज्ययंत्र की पद्धति इस प्रकार की है कि मन में आने पर किसी का नुकसान करने का अधिकार एक मामूली सिपाही को भी है, किंतु किसी का सदा के लिए भला करने का अधिकार स्वयं गवर्नर को भी नहीं! इसलिए यही ठीक होगा कि निजी दानों पर ही बसु निर्भर रहें।" बंबई प्रांत ने बसु को उचित मात्रा में दान देकर उनका ठीक तरह से सम्मान किया, इस पर तिलकजी ने संतोष व्यक्त किया। बसु को इस दौरे में लगभग 1 लाख रुपए प्राप्त हुए।

जगदीशचंद्र के इसके पहले के विदेश दौरे को चार वर्ष हो चुके थे। इस कालावधि में हुए

अनुसंधान की जानकारी पश्चिमी वैज्ञानिकों के सामने रखने की आवश्यकता बसु महसूस कर रहे थे। मेस्कोग्राफ अब लगभग पूर्णत्व की स्थिति में पहुँचा था। उसके आधार से कुछ प्रयोगों की प्रस्तुति करनी थी। काफी स्थानों से निमंत्रण भी आ रहे थे। संस्था के संचालन की चिंता न रहने पर बसु ने विदेश दौरे की तैयारी शुरू कर दी।

सन् 1919 के नवंबर में यूरोप के पाँचवें दौरे के लिए उन्होंने प्रस्थान किया। पहले महायुद्ध के विनाश से पूर्णतः बाहर न आया पश्चिमी विश्व बसु का स्वागत किस प्रकार करेगा, इस बारे में अनेक के मन में संशय था। लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं। सब जगह बसु का अच्छा स्वागत हुआ।

बसु पहले इंग्लैंड गए। उस समय भारतमंत्री थे मांटेग्यू। उन्होंने 'इंडिया ऑफिस' में जानकारों के लिए बसु का व्याख्यान रखा। अध्यक्ष थे आर्थर बेलफोर। बसु ने 'मैग्नेटिक मस्कोग्राफ' का कार्य सभी को दिखाया। वह देखकर उपस्थित जन तो प्रभावित हुए ही, किसी के बारे में लिखते समय हाथ पकड़ लेने वाले 'टाइम्स' ने भी मुक्त कंठ से बसु की प्रशंसा की, "प्राचीन काल में जब हम यूरोपवासी आदिम स्थिति में जंगली जानवर की तरह जी रहे थे, उस समय पौर्वात्यों ने पूरे विश्व को अपने विचारों के दायरे में समा लिया था। भासमान भिन्नता के पीछे की एकता की अनुभूति ली थी। (वैसी ही प्रगति एवं कार्य बसु ने किया है।)

"...वे विज्ञान की जिस तरह से उपासना कर रहे हैं, वह विज्ञान के विकास के लिए तो है ही, बल्कि पूरी मानव जाति के भले के लिए भी वह उपयोगी है।"

विख्यात वैज्ञानिक प्रो. जे. आर्थर थॉमसन ने 'द न्यू स्टेट्समैन' में लिखा— "हम जिसके बारे में संदेह से ही बोलते हैं, उस अद्वैत का प्रतिपादन यह अनुसंधान-कर्ता पूरे आत्मविश्वास के साथ करें। अजीवों का प्रतिसाद एवं स्मृति इनका संबंध सीधा सजीवों का प्रतिसाद एवं स्मृति...से जोड़ें तथा पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मानस-शास्त्र की सीमारेखाओं का विलय होता देखें, सब उसकी भारतीय प्रतिभा से सुसंगत ही है। प्रयोगकर्ताओं के राजा का हम आज गर्व से स्वागत कर रहे हैं।"

सभी प्रमुख वैज्ञानिकों द्वारा बसु का ऐसा ही स्वागत हो रहा था। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज तथा लंदन विश्वविद्यालयों में उनके व्याख्यान हुए। ॲबर्डीन विश्वविद्यालय ने उन्हें एल-एल.डी. की मानद उपाधि प्रदान की। सबसे महत्त्व की बात यह कि रॉयल सोसाइटी ने मई 1920 में उन्हें फेलो के रूप में स्वीकृत करने की घोषणा की।

इस समाचार से डॉ. वॉलर एकदम बिगड़ गए—"बसु को यह फेलोशिप न मिले, इसके लिए कुछ करना ही पड़ेगा।" उन्होंने तथा उनके दोस्तों ने तय किया। उन्होंने 'टाइम्स' में पत्र लिखकर मैग्नेटिक मस्कोग्राफ का कार्य एवं उसके द्वारा किए गए प्रयोगों के बारे में संदेह व्यक्त किया। 'बसु अपनी प्रयोगशाला के अलावा अन्य किसी भी स्थान पर मैग्नेटिक मस्कोग्राफ के द्वारा प्रयोग करके दिखाएँ', ऐसी चुनौती भी उन्होंने दी।

बसु को इसमें कोई कठिनाई नहीं थी। 23 अप्रैल को लंदन में 'यूनिवर्सिटी कॉलेज' की प्रयोगशाला में अनेक यंत्रों की उपस्थिति में बसु ने यशस्विता से कई प्रयोग प्रस्तुत किए। आगे एक व्याख्यान में (19 जनवरी, 1925) जगदीशचंद्र ने इस कार्यक्रम का रोचक वर्णन किया है, "इसके पहले के दौरे में मैं इसी प्रकार का एक बड़ा उपकरण साथ ले गया था; लेकिन लंदन में उतरने पर भारवाहक ने वह पेटी उल्टी पकड़ी। इससे भारी वजन गिरने पर नाजुक यंत्र पूरा टूट गया।...इसलिए इस बार मैंने छोटा, मैं ही उठा सकूँ, ऐसा उपकरण बनाया। 10 करोड़ गुना वर्धन करनेवाला वह मैग्नेटिक मस्कोग्राफ था। मेरी प्रयोगशाला सबके लिए खुली थी, किंतु एक वैज्ञानिक ने अन्य किसी स्थान पर प्रयोग दिखाने की चुनौती दी। मानो अपनी प्रयोगशाला में मैं जादू या टोना-टोटका करके वनस्पति के प्रतिसाद ना करके दिखाता हूँ। चुनौती देने में उनका एक सुप्त हेतु था। मेरे उपकरण का एक महत्त्व का भाग था बाल से भी बारीक एक तंतु। वे जानते थे कि उपकरण इधर से उधर ले जाते समय टूटेगा और मैं प्रयोग दिखा ही नहीं पाऊँगा।

लेकिन चुनौती स्वीकारने के सिवा मेरे पास अन्य कोई उपाय नहीं था। मेरी प्रयोगशाला से गॉवर स्ट्रीट पर स्थित यूनिवर्सिटी कॉलेज तक हमने गाड़ी बिलकुल धीमी चलाई। लेकिन उतरते समय एक हलका-सा झटका लगा और वह धागा टूट गया। मैंने पहले से ही सावधानी बरतकर एक सेकोटिन (गोंद) की कुप्पी साथ में रखी थी, उससे वह जोड़ दिया। प्रयोग के समय तक वह पूरा सूखा भी नहीं था। उसके वजन से निर्देशक सूची खींची जा रही थी। किंतु 15 मिनट तक धागा टूटा नहीं और मैं प्रयोगों का प्रस्तुतीकरण पूरा कर पाया। वैज्ञानिक एवं पत्रकारों की उत्सुकता चोटी पर थी। कठिन समय में मैंने धैर्य दिखाया, इससे मुझे कई दोस्त मिल गए।

फिर 4 मई के 'टाइम्स' में ब्रिटेन के वैज्ञानिकों ने एक सामूहिक पत्र लिखकर बसु का अनुमोदन किया। स्वयं लॉर्ड रेले एवं बेलिस, ब्लॅकमन, क्लर्क, क्लिंटन, डॉमन आदि वैज्ञानिकों ने 'टाइम्स' में लिखा, "इस उपकरण के द्वारा वनस्पति की पेशियों की वृद्धि अचूकता से नापी जाती है तथा उसकी 10 लाख से 1 करोड़ गुना संवर्धित प्रतिमा दिखाई जाती है, इसके बारे में हम निस्संदेह एवं संतुष्ट हैं। सर विलियम ब्रैग तथा प्रो. ऑलिवर ने 'हमने इस उपकरण का कार्य अन्यत्र स्थानों पर देखा है, उत्तेजनाओं को वनस्पतियों की पेशियों द्वारा दिया जानेवाला प्रतिसाद वह प्रत्यक्ष दिखाता है', ऐसा लिखकर अनुमोदन किया।"

प्रो. वॉलर का मुँह सदा के लिए बंद हो गया।

बसु ने शांत मन से एवं उदार भाव से 5 मई के 'टाइम्स' में लिखा—"औचित्य की सीमा का भंग करके की गई आलोचना अंततः ज्ञान की प्रगति में ही बाधा बन जाती है। मेरा अनुसंधान, उसके स्वभावगत वैशिष्ट्यों के कारण पहले ही अत्यंत कठिनाई का था। इन कठिनाइयों में पिछले बीस वर्षों में वृद्धि ही डाली गई ऐसा मुझे खेदपूर्वक कहना पड़ता है। किंतु मेरे मार्ग में जान-बूझकर खड़ी की गई बाधाओं को अब मैं भूल सकता हूँ, उनकी अनदेखी कर सकता हूँ। मेरे कार्य से पहले से चले आ रहे सिद्धांत गलत साबित हो जाने के

कारण किसी एक के मन में आशंका एवं वैर भाव पैदा हुआ भी होगा; किंतु इस राष्ट्र के विशाल वैज्ञानिक समूह ने मेरा जो सौहार्दपूर्ण स्वागत किया है, उससे मैं आश्वस्त हो गया हूँ।"

13 मई को बसु को रॉयल सोसाइटी की सदस्यता प्रदान करने का समारोह था। इसके पहले मात्र एक भारतीय को यह सम्मान प्राप्त हुआ था—श्रीनिवास रामानुजन को। वे गणितज्ञ थे। भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में यह सम्मान प्राप्त करनेवाले बसु ही पहले भारतीय पदार्थ-विज्ञान के साथ शरीर-विज्ञान के क्षेत्र में भी बसु ने जो योगदान दिया, उसके लिए भी यह प्रतिष्ठित सम्मान उन्हें दिया गया। बसु के लिए संतोष की बात यह रही कि पहले जिन्होंने उनका विरोध किया, उन्होंने अब उनके नाम का अनुमोदन किया।

लेकिन, प्रत्यक्ष समारंभ बसु के लिए फजीहत का ही प्रसंग रहा। उसके पहले के कुछ दिन काम के तनाव के रहने के कारण उस दिन बसु को गहरी नींद आई। उस कारण वे 'बर्लिंग्टन हाउस' देरी से पहुँचे। जल्दबाजी में वे अपना चश्मा ले जाना ही भूल गए। "मैंने कहाँ और कैसे हस्ताक्षर किए, यह भगवान् ही जाने।" बसु ने बाद में कहा।

इस अवसर पर 'टाइम्स' ने एक टिप्पणी लिखी, "सर जगदीशचंद्र बसु ने रॉयल सोसाइटी को पादपकार्यिकी के विषय में किए अनुसंधान के पहले निष्कर्ष बताने को उन्नीस वर्ष हुए हैं। उस समय उनके निष्कर्ष एवं निबंध नकार दिए गए। ये उन्नीस वर्ष बसु के लिए विभिन्न प्रकार से किए गए प्रयोगों के, अथक-अविश्रांत श्रम के थे। उनके कार्य के लिए यशोमाला गले में पड़ने में देरी हुई, यह सच है; किंतु इसके पीछे कोई वंशवाद जैसा कारण नहीं है।"

बसु ने भी उदार मन से इस विलंब के पीछे की भूमिका समझ ली और उससे सहमति दरशाते हुए कहा, "जो हुआ, वह ठीक ही था। कोई भी निष्कर्ष अगर ठीक जाँचे गए बिना ही स्वीकृत किए जाएँ तो विज्ञान में अंधश्रद्धा की मिलावट हो जाएगी।"

कितना विशाल था बसु का मन। कितने तर्कसंगत थे उनके विचार! कितनी निष्पक्षता से वे देख सके घटितों की ओर! सोना सोना ही होता है। सुनार वह जानता भी है। लेकिन जब तक उसकी अग्निपरीक्षा नहीं होती, उसे कसौटी पर नहीं चढ़ाया जाता, उसकी असलियत सिद्ध नहीं होती, तब तक लोग उसे नहीं मानते। यह जनरीति बसु ने नम्र भाव से मान्य की। निबंधों की, निष्कर्षों की अस्वीकृति से वे न क्रोधित हुए, न खिन्न। अपना सोना वे एक के बाद एक कसौटी पर चढ़ाते रहे। अंत में दुनिया को उसकी शुद्धता को मानना ही पड़ा। किसी भी वैज्ञानिक को, अनुसंधानकर्ता को ऐसे ही धीरज से काम लेना पड़ता है। 'दुनिया मेरा कहना तत्काल माने, ऐसी जल्दबाजी नहीं चलती। अंत में ये विज्ञान है, वस्तुनिष्ठ है। कलकत्ता में प्राप्त निष्कर्षों की जब तक लंदन, न्यूयॉर्क, बर्लिन या पेरिस से पुष्टि नहीं होती, वे प्रयोग वस्तुनिष्ठता का स्तर नहीं प्राप्त करते। वे व्यक्तिनिष्ठ कहे जाते हैं। जब तक वस्तुनिष्ठता प्राप्त नहीं होती तब तक वे निष्कर्ष वैज्ञानिक जगत् में मान्यता प्राप्त नहीं कर पाएँगे तथा उस वैज्ञानिक को उसका श्रेय एवं सम्मान भी प्राप्त नहीं होगा। यह जानते हुए

बसु शांति से, धीरज से अपने कार्य में लगे रहे। जब दुनिया को गवाही मिल गई, बसु को उनका श्रेय एवं सम्मान अपने आप प्राप्त हुआ।

लंदन से बसु पेरिस और स्टॉकहोम गए। विएना तथा बर्लिन में भी वैज्ञानिकों ने उनका स्वागत किया। पिछले दौरे में (सन् 1914-15) प्रो. फेफर के संबंध में जो अनुभव आया था, ठीक वैसा ही अनुभव इस बार प्रो. हाबेरलॅट के बारे में आया। बर्लिन के व्याख्यान के पूर्व उनका स्वागत थोड़ा नरम ही हुआ, जर्मनी के शत्रु राष्ट्र से आया वैज्ञानिक होने के कारण। किंतु व्याख्यान एवं प्रात्यक्षिक ठीक तरह से संपन्न हुए। किसी ने विरोधी मत नहीं दिया। दूसरे दिन प्रो. हाबेरलॅट की प्रतिक्रिया प्रकाशित हुई, "कल शाम हमें एक अनोखी सी वैज्ञानिक दावत मिली।...वनस्पतियाँ सच्चे अर्थ में सोती हैं, यह हमने देखा। उन्हें बढ़ते हुए हम देख पाए।...'हरेक सजीव में संवेदनक्षम घटक होता है', इस प्राचीन भारतीय मत का जीवित प्रतीक यानी प्रो. बसु। प्राचीन काल में जिस भारतीय प्रज्ञा ने इंद्रियातीत, आध्यात्मिक सत्य की अंतर्मुख होकर अनुभूति की, उसी ने इस आधुनिक काल में असामान्य निरीक्षण-कौशल होनेवाला तथा वैज्ञानिक प्रयोग करते समय अपना देहभाव तक खो देनेवाला प्रतिनिधि प्रकाश में लाया, यह लक्षणीय बात है। आज वह हमारा अतिथि बनकर यहाँ आया है।"

अपना अनुसंधान जिसके मतों के विरोध में प्रतिपादन करता है, उसके द्वारा भी स्वागत होने का बसु का यह दूसरा अनुभव था। एक काव्य में कहा गया है, 'मतभेद होने पर भी मतभेद हो न पाए'। इस काव्य पंक्ति की प्रतीति बसु को इस घटना से आई। सहिष्णु व उदार भूमिका से वैज्ञानिकों का जितना लाभ होता है, उतना ही विज्ञान का। ऐसे मत-मतांतरों से ही प्रतिपादकों की अग्निपरीक्षा होती है, असत्य जल जाता है तथा सत्य ज्ञान का सोना चमकने लगता है।

सन् 1920 के उत्तरार्ध में बसु भारत लौटे।

उसी वर्ष बसु का पहली अंग्रेजी जीवनी प्रकाशित हुई। सर पैट्रिक गिड्से ने वह लिखा। वे जीवन-शास्त्र एवं समाज-शास्त्र के भी जानकार थे। वर्ष 1900 की पेरिस परिषद के सचिवों में से वे एक थे। मानव पर होनेवाले स्थल विषयक परिणामों का उनका सिद्धांत था। बोस इंस्टीट्यूट की स्थापना के बाद वे वहाँ आकर रहे थे। 'The life and works of sir jagdish Chadra Bose' यह जीवनी अव्वल दर्जे की है। बसु का जीवन, कार्य, अनुसंधान, प्रयोग—इनका पूरा ब्योरा उसमें है। बसु के व्यक्तित्व एवं विचारों का सार-संक्षेप में बताते हुए अपनी प्रस्तावना में प्रो. गिड्से ने कहा है, "...यहाँ पथदर्शी स्वरूप का बृहत् कार्य है और वह भी उच्च स्तर का। पदार्थ-विज्ञान, शरीर-विज्ञान एवं मानस-शास्त्र जैसे भिन्न माने जानेवाले विज्ञानों के केंद्रबिंदु पर किया यह कार्य है। वह पथदर्शी है। न केवल विषयों का वैविध्य, बौद्धिक श्रेष्ठत्व या असामान्य अनुसंधान कार्य के लिए, अपितु सभी विज्ञानों में वैश्विक एकता एवं सुनियोजितता के बारे में मौलिक तरीके से होनेवाली दृढ़ श्रद्धा से उसका उद्गम एवं विकास हुआ है, इसलिए भी। आज तक जिन बातों का भिन्नता से ही

विचार हुआ है, उनके एकत्रीकरण का विचार बसु ने आरंभ से ही किया है।"

विज्ञान की आत्यंतिक विशेषीकरण की दिशा त्याज्य मानकर उसे अद्वैत की ओर गति देने का जो मौलिक व क्रांतिकारी कार्य बसु ने किया, उसका ठीक आकलन प्रो. गिड्से ने किया।

जनवरी 1921 में बंबई के 'सेंट जेवियर्स कॉलेज' में बसु का व्याख्यान हुआ। विषय था—'विज्ञान एवं अनुसंधान'। "छात्र शासन से या अन्य किसी से सब कुछ परिश्रम के बिना चाहते हैं। ऐसी परावलंबिता से आलस्य तथा निष्क्रियता बढ़ती है, ऐसा कहकर बसु ने नया कुछ खोजने का छात्रों से आह्वान किया। उसमें कठिनाइयाँ तो होती ही हैं, किंतु जितनी कठिनाइयाँ या बाधाएँ अधिक, उतना ही यश उज्ज्वलतर।" उन्होंने कहा।

25 जनवरी, 1921। कलकत्ता का टाउन हॉल। कलकत्तावासी भारी संख्या में उस दिशा में जा रहे हैं। आज वहाँ उनके प्रिय 'बाशू दा' का नागरिक सम्मान का आयोजन किया गया है। बसु का सारा कार्य जिस शहर में चला, उनकी अनुसंधान-संस्था जिस शहर में खड़ी रही, उस कलकत्ता नगर ने उनका सम्मान करने का तय किया गया था। नगरपाल डॉ. चुन्नीलाल बसु ने सभी नगर जनों को आमंत्रित किया था। भारी संख्या में नागरिकों के साथ अनेक प्रतिष्ठित, गण्यमान्य व्यक्ति भी उपस्थित थे।

समारोह का आरंभ हुआ। कासिम बाजार के नरेश ने 'सर अब्दुल रहीम अध्यक्ष स्थान ग्रहण करें', ऐसा प्रस्ताव रखा। उसके बाद सर ए. चौधरी ने नागरिकों की ओर से दिए जानेवाले मानपत्र का वाचन किया। मानपत्र खचित था सोने के पत्तरे से बने नारियल के पत्ते पर। उसे रखा गया था चाँदी के तबक में। आच्छादन के रूप में था वज्र चिह्नांकित वस्त्र। मानपत्र के साथ तबक में थे पारंपरिक सम्मान चिह्न, रेशम का महावस्त्र, चावल की लाइयाँ, हरे नारियल की एक माला तथा चंदन से भरा चाँदी का कटोरा।

सम्मान का उत्तर देते समय जगदीश का हृदय कलकत्ता की स्मृतियों से भर गया, "यह नगरी पिछले तीन-साढ़े तीन दशकों तक मेरी कर्म भूमि रही है। इसी नगर के 'कॉलेज चौक' से निकलनेवाली एक गली के कोने से मुड़ते समय मेरे मन में आकाश के पार्श्वपट पर एक कंकण की प्रतिमा उभरी और 'रेझोनट रिकॉर्डर' की वर्षों तक अस्त करनेवाली एक समस्या का हल हुआ। इसी नगर के एक रास्ते के बगल में दिखाई दिए एक तिनके के कारण ही मेरे अनुसंधान की दिशा अजीवों से सजीवों की ओर जुड़ी।"

पहले के वक्ताओं ने बसु को सामना करनेवाली कठिनाइयों का उल्लेख किया था। वह सूत्र पकड़कर बसु ने कहा, "ब्रिटेन के कुछ वैज्ञानिकों ने मुझसे वैर मोल लिया था। एक ने मेरे प्रयोगों के निष्कर्ष अपने नाम पर घोषित किए। दूसरे एक थे, जो रॉयल सोसाइटी की प्रकाशन-समिति में थे। उस समिति ने मेरे एक के बाद एक सात निबंध नकार दिए। इसका परिणाम भारत में ऐसा हुआ कि मेरी क्षमताओं एवं सच्चाई पर ही प्रश्नचिह्न लगना आरंभ हुआ। जो कुछ थोड़ी-बहुत सुविधाएँ मुझे मिल रही थीं, वे भी हटा ली गईं। रॉयल

सोसाइटी मुझे 'फेलो' क्यों नहीं चुनती, इसका स्पष्टीकरण बार-बार माँगा जाने लगा। उस समय मैं वह दे नहीं सकता था, अब 'फेलो' बनने के बाद मैं वह दे सकता हूँ। बीस वर्ष पूर्व मेरा भौतिक-शास्त्र में किया अनुसंधान देखकर लॉर्ड केल्विन ने मेरी फेलोशिप हेतु प्रयास आरंभ किया। किंतु, उनकी योजना मैंने ही ध्वस्त कर दी—वनस्पतियों के शरीर-विज्ञान में घुसकर। उस क्षेत्र में किए प्रयोगों का पाँच वर्ष तक विरोध ही होता रहा। बाद में मान्यता मिलने लगी एवं सराहना होने लगी। 'फेलोशिप' के लिए फिर प्रयास आरंभ हुए। लेकिन मैंने फिर उन पर पानी फेर दिया—वनस्पति एवं प्राणियों के प्रतिसाद-साधर्म्य की खोज में लगकर। मैं न किसी एक घर का रहा, न घाट का। मेरे विद्रोहों के कारण मेरी बगल में रहनेवाला कोई था ही नहीं। इसलिए 'फेलो' बनने हेतु मुझे 15 वर्ष रुकना पड़ा।

"किंतु दो दशकों की यह उपेक्षा एवं प्रतिकूलता मेरी वृद्धि के लिए एक आवश्यक उत्तेजना ही बनकर रही। एकांत के कारण ही अपना मन सामनेवाली समस्याओं पर एकाग्र कर सका और अंत में सत्य का साक्षात्कार हो सका। अपनी युवावस्था में ही मैंने एक सबक सीखा कि मनुष्य को अपनी प्राप्त स्थिति को कोसने के बजाय, उसे धैर्य से स्वीकार करना चाहिए, उससे लड़ना चाहिए और फिर उस पर सवार होना चाहिए। मेरा ऐसा दृढ़ विश्‍वास है कि यदि मनुष्य को एक बार उसके जीवित ध्येय का आकलन हुआ तथा उसने स्वयं को उसकी प्राप्ति हेतु पूर्णतः समर्पित कर दिया तो बंद दरवाजे अपने आप खुल जाते हैं तथा असंभव संभव हो जाता है। मेरी यह श्रद्धा अंध नहीं है, इसका मैं बार-बार अनुभव कर रहा हूँ।

मेरी अनुसंधान संस्था अब अंतरराष्ट्रीय दर्जे की एवं ख्याति की हो गई है। मैं तथा मेरे शिष्यगण जीवन को घेर बैठे कई गुह्यों की खोज वहाँ कर रहे हैं—करने वाले हैं। मानव ज्ञान के क्षितिज नित्य विस्तृत होते रहें, यही हमारी कामना है। विज्ञान रूप दैवी देन हमारे पास है। इस कार्य से मानव के दुःख कम हों एवं भूमि अधिकाधिक उपजाऊ बने, ऐसे हमारे प्रयास रहेंगे।"

इस नागरी सम्मान के बाद 12 अप्रैल को कलकत्ता के रोटरी क्लब ने भी बसु का सम्मान किया।

इधर इंस्टीट्यूट में बसु का अनुसंधान कार्य जारी था। कभी अकेले से तो कभी सहयोगी वैज्ञानिक एवं छात्रों के साथ में 'ट्रांजैक्शन्स', 'Life-Movements in plants' इस शीर्षक से वह प्रकाशित भी होता रहा। सन् 1923 में उसका शीर्षक रहा 'The Physiology of the Ascent of Sap', जिसका 1925 में जर्मन भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुआ।

सन् 1923-24 में बसु छठी बार यूरोप गए। लंदन में 'इंडिया ऑफिस' में इस बार उनका जो व्याख्यान हुआ, उसमें कई बड़ी हस्तियाँ उपस्थित थीं स्वयं प्रधानमंत्री रेमसे मैकडोनल्ड, भूतपूर्व वायसरॉय लॉर्ड हार्डिंज, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ आदि। विषय था—'Phenomenon of the Growth of plants'। 'टाइम्स' सहित अनेक समाचार-पत्रों ने नए अनुसंधान की

जानकारी देने हेतु चार वर्ष बाद इंग्लैंड आए बसु की प्रशंसा की। लंदन विश्वविद्यालय, रॉयल सोसाइटी ऑफ मेडिसिन, इंपीरियल कॉलेज ऑफ साइंस संस्थाओं में भी बसु बोले। बाद में वे प्राग, कोपेनहेगन तथा पेरिस भी गए।

उनका 'The Physiology of Photosynthesis' नामक ग्रंथ सन् 1924 में प्रकाशित हुआ तो उसका फ्रेंच अनुवाद अगले वर्ष।

19 दिसंबर, 1924 को पंजाब विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह था। जगदीश दा उसके प्रमुख अतिथि के रूप में आमंत्रित थे। "मैं तुम्हारी दुर्बलताओं का नहीं, अपितु सामर्थ्य का आह्वान करने वाला हूँ। मैं तुम्हारे सामने आसान ध्येय नहीं रखने वाला हूँ, अपितु सबसे कठिन ध्येय को स्वीकार कराने वाला हूँ," ऐसी प्रस्तावना करने के बाद बसु ने स्नातकों को देश की उन्नति के लिए अनुसंधान कार्य करने हेतु स्वयं को समर्पित करने का आह्वान किया। 'परिस्थिति अनुकूल न होने' का रोना रोनेवालों को उन्होंने कर्ण की कथा बताई। 'दैवायत्त कुले जन्मः मदायतं तु पौरुषम्', ऐसा कहकर अर्जुन को चुनौती देनेवाले कर्ण का आदर्श उन्होंने स्नातकों के सामने रखा। वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए आवश्यक गुण-संपदा का विवेचन भी बसु ने किया—कल्पनाशीलता, निरीक्षण क्षमता, एकाग्रता, लगन आदि।

बसु के प्रेसीडेंसी कॉलेज में अध्यापन-कार्य आरंभ करने के चार दशक पूरे होने के उपलक्ष्य में छात्रों ने 19 जनवरी, 1925 को अर्घ्य एवं मानपत्र देकर उनका सम्मान किया। आपके महान् होने में किस-किसका योगदान रहा तथा मार्ग में आई बाधाओं पर आपने विजय कैसे पाई, ऐसा पूछे जाने पर जगदीशचंद्र ने बताया कि उनपर सबसे बड़ा प्रभाव उनके पिताजी के विचार एवं कृतियों का रहा। बचपन से सन् 1920 के वॉलर-कांड तक आई कठिनाइयों का एवं उनका सामना उन्होंने कैसे किया, इसका भी विवरण बसु ने दिया।

उसी वर्ष के अंत में 21 दिसंबर को बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के वे अतिथि थे। प्राचीन भारतीयों की ज्ञानोपासना, एकत्व की खोज करने की भूमिका, ज्ञान का विश्व-कल्याण हेतु उपयोग करने की उनकी उदारता आदि मुद्दों का बसु ने विवेचन किया।

सन् 1926 में बसु को एक बड़ा अंतरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुआ। पहले महायुद्ध के बाद जागतिक शांति एवं सहकार्य हेतु स्थापित हुए 'लीग ऑफ नेशंस' की 'Committee on Intellectual Co-Operation' के वे सदस्य मनोनीत कर दिए गए। बसु का विश्वस्तरीय दर्जा एवं ख्याति की यह जितनी गवाही थी उतनी ही सामंजस्य के मार्ग से विरोध निरस्त करने के कौशल की थी। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बीच खड़ी दीवारें तोड़कर अंतरशाखीय अनुसंधान के द्वारा उसे अंतिम एकत्व की ओर ले जाने का मौलिक कार्य उन्होंने किया था। अब एक-दूसरे के विरोध में शस्त्रसज्जित होकर खड़े हो रहे दुनिया के राष्ट्रों के बीच की दीवारें तोड़ने का, कम-से-कम उस दिशा में आगे बढ़ने का पहला कदम रखने के काम में वे सहभागी होने वाले थे। ज्ञान के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय सहयोग बढ़े, इस हेतु गठित इस समिति पर दुनिया के कुछ महान् व्यक्ति थे—डेनमार्क के गणित एवं पदार्थ

वैज्ञानिक हेड्रिक लॉरेंस, ब्रिटेन के विद्वान जॉर्ज गिल्बर्ट मरे तथा किसी विशेषण या परिचय की आवश्यकता न होनेवाले अल्बर्ट आइंस्टाइन। सन् 1926 से लेकर 1929 तक प्रतिवर्ष समिति की बैठक के लिए बसु जिनेवा गए। सन् 1928 की बैठक के समय बसु का जिनेवा विश्वविद्यालय में व्याख्यान भी हुआ। इस समय बसु का सम्मान भी किया गया, जिस समारोह में आइंस्टाइन भी उपस्थित थे। बसु के कार्य से वे इतने प्रभावित हुए थे कि उनके गौरव में यहाँ एक स्तंभ स्थापित किया जाना चाहिए, ऐसा सुझाव उन्होंने रखा।

सन् 1926 के अप्रैल में बसु छह महीनों के लिए यूरोप गए। जिनेवा में हुई समिति की बैठक के बाद वे इंग्लैंड गए। 'बोस इंस्टीट्यूट' के लिए सरकार से निधि प्राप्त करना इस दौरे का मुख्य हेतु था। ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमंत्री स्टॅनले बाल्डविन के साथ बसु की लंबे समय तक बातचीत हुई। ब्रिटेन के कई वैज्ञानिक एवं प्रभावशील व्यक्तियों से भी बसु इस विषय पर बोले। यह बातचीत प्रभावी रहकर ब्रिटेन के 27 सम्माननीय व्यक्तियों ने भारत के वायसराय को एक पत्र लिखा—

लंदन, अगस्त 1926

"आदरणीय महोदय,

हम आपका ध्यान कलकत्ता के 'बोस इंस्टीट्यूट' द्वारा वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से किए वैश्विक कार्य की ओर नम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं। वहाँ जो अनुसंधान आज तक हुआ है तथा जो नई पद्धतियाँ विकसित की गई हैं, उन्होंने दुनिया भर में उत्सुकता जगाई है। हमें उस कार्य के प्रति संतोषपूर्ण आदर है। संस्था द्वारा विज्ञान की प्रगति एवं मानव कल्याण—इन ध्येयों से प्रेरित होकर अनेक विद्यार्थी वहाँ स्नाकोत्तर अनुसंधान कर रहे हैं। ज्ञान की प्रगति के लिए पूर्व एवं पश्चिम के सहयोग का हम स्वागत करते हैं। इस दृष्टि से इस संस्था के कार्य का विस्तार होने की आवश्यकता है। वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक प्रगति के लिए कम समय में इस संस्था ने जो यश संपादित किया है, उसे देखते हुए उसका विस्तार भारत एवं वहाँ की सरकार निश्चित रूप से गौरव ही प्रदान करेगी।

इसलिए हम आपसे ऐसा मत प्रकट करना चाहते है कि संस्था के विस्तार के लिए भारत सरकार द्वारा और अधिक सहयोग किया जाए, जिससे संस्था की उपयोगिता बढ़ती रहे तथा भारत की ज्ञानोपासना की प्राचीन परंपरा का पुनरुज्जीवन हो सके।"

इस पत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में थे—रॉयल सोसाइटी के पूर्व अध्यक्ष चार्ल्स शेरिंग्टन, लॉर्ड रेले, ऑलिवर लॉज, सिडने व्हाइंस, ज्यूलियन हक्सले, माइकेल सॅडलर, रिचर्ड ग्रेगरी, 'डेली टेलीग्राफ' के लॉर्ड बर्नहम, 'मैनचेस्टर गार्जियन' के संपादक सी.पी. स्कॉट, विदेश सचिव लॉर्ड ग्रे आदि।

वायसरॉय द्वारा इस पत्र पर विचार हुआ, किंतु पर्याप्त धन के अभाव में कार्यवाही एक वर्ष

तक आगे बढ़ा दी गई। फिर सन् 1929 में बसु के जिनेवा जाने के पहले अधिक निधि की घोषणा हुई। इंस्टीट्यूट की प्रयोगशालाओं के विस्तार के लिए यह मदद थी।

सन् 1926 में बसु का 'The Nervous Mechanisun of Plants' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उन्होंने इसे रवींद्रनाथ को अर्पित किया। इस समय हिंदू-मुसलिम वैर की परिसीमा हुई थी। विद्वेष एवं हिंसा ने माहौल बिगाड़ दिया था। विदेश दौरे से लौटे रवींद्रनाथ इससे व्यथित हुए थे। किंतु यह ग्रंथ पढ़ने पर उन्हें काफी राहत मिली। 28 दिसंबर के पत्र में वे जगदीश दा को लिखते हैं, "लंबे समय तक विदेश में रहकर भारत लौटने पर मुझे लगा कि मेरे हर्ष का लोप हो रहा है। किंतु, मुझे अर्पित किया तुम्हारा ग्रंथ ही मैंने महसूस किया कि यहाँ सत्य है, प्रकाश है, जीवन है। भारत की शाश्वत पहचान ठीक यही है। इस ग्रंथ द्वारा तुम्हारे दिए मैत्री के संदेश से मैं हर्षित हो उठा। मेरे मन की उदासी कहीं भाग गई।"

वर्ष 1927 की 'Indian Science Congress' लाहौर में होने वाली थी। उसके अध्यक्ष पद के लिए बसु चुने गए। 3 जनवरी को उनका भाषण हुआ, जिसमें अपने वैज्ञानिक जीवन के अनुभवों का उन्होंने कथन किया।

उसी वर्ष जिनेवा की बैठक के बाद लोकेर्नो में एक शिक्षा विषयक अंतरराष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित किया गया था। उसमें एक वक्ता बसु थे। वहाँ से वे फ्रांस एवं बेल्जियम गए। पेरिस में उनके मेजबान थे रोमाँ रोलाँ। अपने 'जॉन मिस्तोफे' उपन्यास की एक प्रति उन्होंने बसु को भेंट दी। उस पर लिखा था, "नई दुनिया का दर्शन करानेवाले को—" उस वर्ष का साहित्य का नोबेल पुरस्कार पानेवाले हेनरी बर्गसन से भी बसु मिले। वे कहते हैं, "आज तक अज्ञात रही मौन वनस्पतियों की जीवन-कथा बसु के अद्वितीय अनुसंधान के कारण शब्दमान हुई है। सावधानी से सँभाले अपने रहस्य को खोलने के लिए उन्होंने अंत में प्रकृति को मजबूर कर ही दिया।"

पेरिस से बसु बेल्जियम गए। वहाँ के राजा पहले ही बोस इंस्टीट्यूट का काम देखने आए थे। आपने ब्रुसेल्स में बसु का व्याख्यान आयोजित किया था। प्रयोग हेतु वनस्पतियाँ राजप्रासाद के उद्यान में ही तैयार की गई थीं। व्याख्यान की अध्यक्षता स्वयं महाराजा ने ही की। इस समय उन्हें 'Commander of the Order of Leopold' की उपाधि से सम्मानित किया गया।

सन् 1927 में बसु के दो ग्रंथ प्रकाशित हुए। इसमें से 'Autographs' उन्होंने अबला दी को अर्पित किया, 'मेरे सभी संघर्षों में जिसने मेरा साथ दिया!' अबला दी सचमुच ही जगदीश के लिए गृहिणी, सचिव, सखी—सबकुछ थीं। निवेदिता, प्रफुल्लचंद्र राय जैसे अनेक की वे माँ थीं। जगदीश दा के प्रत्येक दौरे में वे उनके साथ रहीं। उनके खान-पान, दवा आदि का दायित्व अबला दी ने निभाया। बीमारी में उनकी शुश्रूषा की। कठिनाइयों के समय वे परामर्श देतीं, संघर्ष के समय धैर्य तथा उद्वेग के समय में सांत्वना। किंतु वे मात्र जगदीशचंद्र की पत्नी नहीं थीं। महिला-शिक्षा एवं आमतौर पर महिला-उन्नति के क्षेत्र में उनका कार्य स्वतंत्र रूप से चलता था। जगदीश दा-अबला दी एक आदर्श दंपती ही कहे जाएँगे, एक-

दूसरे से पूर्णतः एक रूप, एक-दूसरे को आधार एवं प्रोत्साहन देनेवाले। अबला दी के बारे में अपनी भावनाएँ जगदीश दा के इस अर्पण-वचन से पूरी-की-पूरी व्यक्त होती हैं।

3 नवंबर को बसु का मैसूर विश्वविद्यालय के पद दीक्षांत समारोह में प्रमुख भाषण हुआ। उसी महीने में 'बोस इंस्टीट्यूट' की स्थापना को 10 वर्ष पूरे हो रहे थे। इस उपलक्ष्य में 29 नवंबर को एक समारोह का आयोजन किया गया। उसमें बोलते समय बसु ने दशक भर के महत्त्व के अनुसंधान एवं घटनाओं का जायजा लिया। श्रोताओं के सामने नए प्रयोग प्रस्तुत किए। इस कार्य से देश-विदेश के शोधकर्ता कैसे प्रभावित हुए हैं, इसकी जानकारी दी।

6 दिसंबर को इंस्टीट्यूट का सभागृह 'Congress of Tropical Modicine' के लिए एकत्र वैज्ञानिकों से खचाखच भरा था। उस समय जगदीशचंद्र ने मानव के हृदय के स्पंदन एवं वनस्पतियों की विशिष्ट पेशियों के स्पंदन का साम्य विभिन्न प्रयोगों से उन वैज्ञानिकों को दिखाया। हृदय के स्पंदन को धीमा करनेवाला अपतेजक पोटैशियम ब्रोमाइड वनस्पतियों की पेशियों के स्पंदन को भी धीमा करता है तथा हृदयोत्तेजक कपूर का द्रावण पेशी-स्पंदन भी तेज करता है, यह उन्होंने दिखाया। मानव के लिए दवा पर अनुसंधान करते समय आरंभिक प्रयोगों हेतु वनस्पतियों का उपयोग करने की संभावना पर विचार करने का आह्वान उन्होंने किया। सर लॉडर ब्रंटन ख्यातनामा हृदय तंत्रज्ञ थे। उन्होंने एक समाचार-पत्र को दिए साक्षात्कार में इसे महत्त्व पूर्ण उपलब्धि बताया।

सन् 1928 में जिनेवा के बाद बसु विएना गए। वहाँ के विश्वविद्यालय में उनका भव्य स्वागत हुआ। उपकुलपति ने भारत के वायसराय को पत्र लिखकर सैद्धांतिक एवं प्रात्यक्षिक विज्ञान के क्षेत्र में बसु के किए योगदान की प्रशंसा की। जून में बसु ने विश्वविद्यालय की 'Plant Physiological Institute' में दो भाषण दिए। प्रो. हान्स न्योलिश इस विषय के विख्यात वैज्ञानिक थे, जो यहाँ काम करते थे। उन्होंने बसु के अनुसंधान को अभिवादन किया—"कृषि एवं चिकित्सा में इस अनुसंधान का जो उपयोग होने वाला है, उससे मानव जाति का कल्याण होने वाला है।" प्राचीन काल में पूर्व में उदित ज्ञान की प्रभा पश्चिम में फैली थी। वह ज्ञान-प्रवाह फिर आरंभ हुआ है, ऐसा वे बसु के गौरव में बोले।

प्रो. न्योलिश द्वारा 'Plant Auto graphs' का जर्मन अनुवाद उसी वर्ष प्रकाशित हुआ। किंतु, बसु के अनुसंधान के प्रति आदर रहते हुए भी न्योलिश को 'वनस्पति का फ्लोएम भाग संवेदना वहन का कार्य करता है।' बसु के इस प्रतिपादन के बारे में संशय था। अपनी प्रस्तावना में वे कहते हैं, "लेखक का यह कहना सत्य साबित होता है, या इस संबंध में अन्य कुछ सुबूत सामने आते हैं, यह तो काल ही बताएगा।"*

उसी वर्ष प्रो. न्योलिश 'बोस इंस्टीट्यूट' में अतिथि अनुसंधानकर्ता एवं प्राध्यापक के नाते आए। नवंबर में हुई बसु की 70वीं वर्षगाँठ के समय वे उपस्थित थे। लगभग डेढ़ वर्ष वे वहाँ रहे। भारत से विदाई लेने के पहले उन्होंने 'नेचर' में लिखा, "हमने कितना वायुरूप अन्न सेवन किया, यह वनस्पति को स्वयं लिखते हुए मैंने देखा। उनके संवेदना-वहन की गति रेझोनेट रिकॉर्डर द्वारा एक सहस्रांश सेकंड के अंतराल से नापी जाती मैंने देखी। किसी

परीकथा से आश्चर्यकारक ऐसी ये बातें हैं; किंतु यहाँ आकर ये प्रयोग देखने का अवसर जिन्हें प्राप्त होगा, उन्हें इन प्रयोगसिद्ध चमत्कारों की गवाही मिल जाएगी तथा आज तक अज्ञात रहनेवाला जीवन का अदृश्य अंग उनके सामने खड़ा हो जाएगा।"

सन् 1928 के दौरे में बसु विएना से कैरो गए। मिस्र के कृषि मंत्री ने 'हमारी सरकार आपका स्वागत करने की उत्सुक है,' ऐसा संदेश भेजा था। कैरो में बसु की अगवानी के लिए स्वयं राजा उपस्थित थे। उन्होंने वहाँ की महत्त्वपूर्ण शिक्षा संस्थाएँ बसु को दिखाने का प्रबंध किया था। कैरो की 'Royal Geographical Society' में बसु का सप्रयोग व्याख्यान हुआ जिसे सुनकर श्रोता प्रभावित हुए। एक पत्र ने लिखा, "जिनके प्रयास से विज्ञान में नई ज्ञान शाखाओं का आरंभ हुआ। उन सर जगदीश बसु के नाम से सभी पौर्वात्यों को हर्ष होना स्वाभाविक है। अपने देश एवं पूरी दुनिया के कल्याण के लिए कार्य करने की प्रेरणा हम उनसे लेंगे।"

सितंबर में बसु भारत लौटे। बंबई के 'यूथ लीग' ने उनका स्वागत एवं सम्मान किया। उस समय उपस्थित युवाओं के सामने बोलते समय बसु ने उन्हें सब प्रकार की क्षुद्रता एवं संकुचित विचारों का त्याग करने का आह्वान किया, "अपने अपयश या अकर्तृत्व के लिए दूसरे किसी को, कभी विश्वविद्यालय, कभी शासन तो कभी परिस्थिति को कोसने का प्रयास विद्यार्थी करते हैं। यह दुर्बलता है। हमें इससे बचना है। 'मैं प्रयास करूँगा', ऐसा कभी मत कहो, 'मैं करूँगा ही', ऐसा कहो।"

28 सितंबर को बंबई विश्वविद्यालय का दीक्षांत समारोह था। बसु इसके मुख्य अतिथि थे। अपने कुछ प्रयोग भी बसु ने उस समय दिखाए।

बसु की महत्ता एवं व्यक्तित्व से मेल न खानेवाली एक घटना इस समय घटी। बंबई के 'Royal Institute of Science' में वनस्पति-विज्ञान के प्रमुख प्राध्यापक आर.एच. दस्तूर ने बसु के 'फ्लोएम' संबंधी प्रतिपादन से असहमति व्यक्त की। उनके अनुसार यह अंग अन्न-वाहन का कार्य करता है, न कि संवेदना-वहन का। बसु ने इस संबंध में काफी प्रयोग किए थे और उनके आधार पर ही अपना मत बनाया था। इसलिए यह उचित होता कि वे प्रो. दस्तूर को अपने प्रयोगों की जानकारी देकर अपना मत ऐसा क्यों बना, यह बताएँ। किंतु कुछ अलग ही हुआ। बसु गुस्से में आकर एकदम बोले, "दुनिया के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने मेरा सिद्धांत मान्य किया है। एक नौसिखिया के सामने मैं झुक नहीं सकता।"

क्यों इतने कठोर शब्दों में बोले बसु? प्रो. दस्तूर बसु जितने श्रेष्ठ वैज्ञानिक न थे तो भी उनका पद 'नौसिखिया' कहा जाए, इतने निम्न स्तर का भी नहीं था। फिर भी, अगर बसु को वे नौसिखिया लगते भी थे, तो भी बसु को अपनी श्रेष्ठता अन्य प्रकार से दिखा देनी चाहिए थी। वे प्रो. दस्तूर को बाद में कुछ बता सकते थे, कलकत्ता बुलाकर अपने प्रयोग दिखा सकते थे। अन्य समय पर बसु ऐसा करते भी थे। दूसरी बात यह कि फ्लोएम संबंधी उनका मत सर्वमान्य नहीं था। प्रो. ग्योलिश ने जर्मन अनुवाद की प्रस्तावना में सूचकता से तथा बसु की अवमानना न करते हुए यह बात कैसे बताई है, यह हमने पूर्व में देखा ही है।

इसलिए ऐसा नहीं है कि प्रो. दस्तूर किसी निर्विवाद मत को चुनौती दे रहे थे। कैसे भी हो, बसु के जीवन की यह घटना उनके शांतिपूर्ण, धैर्यशील व समझदार स्वभाव के विपरीत ही लगती है।

17 नवंबर को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के प्रमुख अतिथि रहे बसु। "यह समारोह हमेशा एक उकतानेवाला कार्यक्रम होता है, क्योंकि आमंत्रित अतिथियों के प्रति आदर दिखाने पर छात्रों को मजबूर किया जाता है। किंतु आज ऐसा नहीं होगा, क्योंकि मैं भी अभी तक छात्र होने के नाते आपका दोस्त ही हूँ।" ऐसा वास्तवपूर्ण आरंभ करके बसु ने अपने व्याख्यान में न केवल विज्ञान, अपितु मानविकी सहित सभी ज्ञान शाखाओं की प्रगति हेतु क्या करना चाहिए इसका ऊहापोह किया। प्राचीन काल में भारतीयों ने ज्ञानोपासना किस तरह की, यह भी उन्होंने विस्तार से बताया। लेकिन हमारे पूर्वज सबकुछ जानते थे। अब नए से कुछ सीखने की, खोजने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मानना भ्रामक राष्ट्रभक्ति है, ऐसा उनका मत था। जब कोई राष्ट्र अपने कोश में ऐसा लिपट जाता है, तब ज्ञान की धारा खंडित होकर बौद्धिक सड़न आरंभ होती है। प्राचीन काल में हमारे पुरखों ने ज्ञान सरिता को नित्य बहाए रखा। अनुसंधान एवं संकलन से यह प्रक्रिया नित्य चलती रहनी चाहिए, उन्होंने अपने दोस्तों से कहा।

30 नवंबर, 1928। जगदीश दा आज अपनी आयु के सात दशक पूरे करने वाले थे। इस 'सप्ततिपूर्ति' के उपलक्ष्य में बोस इंस्टीट्यूट में उनका भव्य सम्मान-समारोह आयोजित किया गया था। उनके छात्र, उनके चाहनेवाले, उनके हितैषी तथा रवींद्रनाथ ने मिलकर इसका आयोजन किया था। रवींद्रनाथ के हस्ताक्षर से निमंत्रण पत्रिका निकली थी—'सर जगदीशचंद्र बसु के सप्ततिपूर्ति के अवसर पर 1 दिसंबर, 1928 को, शाम 4 से 6 बजे तक बोस इंस्टीट्यूट में एक समारोह का आयोजन किया गया है। भारत में ज्ञान की प्रगति के लिए सर जगदीशचंद्र बसु ने जीवन भर जो कार्य किया है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का यही उचित समय है, ऐसा उनके प्रेमियों को लगता है।

'भारत की बौद्धिक अवनति के तिमिर-प्रहर में उन्होंने उज्ज्वल भविष्य की राह दिखानेवाली ज्योति प्रज्वलित की है। गहरी वैज्ञानिक चिकित्सा की उनकी प्रवृत्ति, मानवता के बारे में उनमें स्थित विश्वात्मक स्नेहभाव, उनका दुर्दमनीय आशावाद—इन सबसे उनके निकट आनेवाले हरेक को प्रेरणा मिल जाती है। अपनी इन भावनाओं को प्रकट करने हेतु उनके सभी छात्र एवं प्रेमी इस कार्यक्रम में सहभागी हों।'

कार्यक्रम का दायित्व निभाने में रवींद्रनाथ की सहायता डॉ. विधानचंद्र राय एवं रामानंद चटर्जी कर रहे थे। रामानंद बसु के विद्यार्थी रहे थे। उन्होंने 'प्रवासी' तथा 'मॉडर्न रिव्यू' जैसे पत्र निकाले। बसु के कई लेख, प्रवास-वर्णन इन्हीं पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। निवेदिता का भी काफी लेखन 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ, यह अलग से बताने की कोई आवश्यकता नहीं।

बसु के शुभ चिंतन पर देश-विदेश के विख्यात व्यक्ति एवं संस्थाओं की ओर से संदेश आए थे। रोम्याँ रोलाँ ने पत्र के साथ एक गद्य-काव्य भेजा था। उस समारोह में उसका पठन हुआ। बर्नार्ड शॉ ने भी संदेश भेजा था। रिचर्ड ग्रेगरी, इंपीरियल कॉलेज ऑफ साइंस के सर जॉन फार्मर आदि के भी संदेश आए थे। चीन के शिक्षामंत्री ने तार द्वारा संदेश भेजा था, "जीवन के गुह्य एवं अंतिम सत्य की खोज करने हेतु समर्पित जीवन को हमारी शुभकामनाएँ। आप विज्ञान को आध्यात्मिक सत्य के स्तर पर ऊपर उठाएँ, ऐसा दुनिया चाहती है। आपके गौरव में पूरा एशिया सहभागी है।"

कलकत्ता विश्वविद्यालय, बंगाल साहित्य परिषद्, राममोहन ग्रंथालय आदि ने भी शुभ संदेश भेजे। 'वनस्पतियों के मूक विश्व को वाणी प्रदान करनेवाला ऋषि' ऐसा उन्होंने बसु को कहा था।

समारोह के लिए रवींद्रनाथ ने एक गौरव-गान लिखा था। बसु जब अनुल्लंघनीय अड़चनों में से एकाकी राह ढूँढ़ रहे थे, तब भी मैं उनके पक्ष में था और अब, इस विजयघटिका के समय उनका स्तुति गान करने हेतु जब बड़ा जनसमूह इकट्ठा हुआ है, तब उसके स्वरों में मैं भी अपना स्वर जोड़ रहा हूँ, ऐसा रवींद्रनाथ ने उसमें कहा है।

दुर्भाग्य से स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण रवींद्रनाथ इस समारोह के लिए उपस्थित नहीं रह सके। अपना भाषण उन्होंने लिखकर भेजा।

इस सम्मान पर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए बसु ने कहा, "पिछले चार दशकों से मेरा जो संघर्ष चल रहा है, वह ज्ञान के क्षितिज विस्तार के हेतु योगदान करनेवाले शब्दों की पंक्ति में भारत को स्थान मिले, इस हेतु है। आज दुनिया एक-दूसरे को खत्म कर डालनेवाले राष्ट्रों में विभाजित है। इस सर्वनाश से उसे बचाने हेतु मात्र एक उपाय है—मानव-कल्याण हेतु अंतरराष्ट्रीय सहयोग। पिछले कई वर्षों से बसु इसी कार्य में सहभागी थे। 'बोस इंस्टीट्यूट' के कार्य का ही वह तार्किक विस्तार था।

गांधीजी ने शायद इस समारोह की खबर ही पढ़ी। और फिर अपराधी स्वरों में 5 दिसंबर को वर्धा से लिखा, "प्यारे दोस्त, मैं थोड़ा पागल ही हूँ। और मानो मैं एक कुएँ में रहता हूँ, बाहर क्या चल रहा है, इसका मुझे पता तक नहीं चलता। आपकी 70वीं वर्षगाँठ के बारे में मुझे कल पता चला। देरी से क्यों न हो, किंतु आपको प्राप्त अनेक शुभकामनाओं में मेरी शुभकामनाएँ भी जोड़ दी जाएँ। आपको दीर्घायुष्य मिले, तथा आपकी बढ़ती शक्ति एवं गरिमा में अधिकाधिक सहभागी होने का सौभाग्य भारत को मिले। आपका—बापू।'

मई 1929 में बसु का आखिरी ग्रंथ, 'Growth and Tropic Movements in Plants' प्रकाशित हुआ। 'बोस इंस्टीट्यूट' की अनेक प्रकार से सहायता करनेवाले पटियाला के महाराजा को वह अर्पित था।

बसु दसवीं बार यूरोप गए। जिनेवा में 'लीग ऑफ नेशंस' की बैठक के बाद वे इंग्लैंड गए।

इस बार भी 'इंडिया ऑफिस' में वैज्ञानिक एवं राजनीतिज्ञों के लिए उनका उद्बोधन आयोजित किया गया था। विषय था—'Revelations of the Unvoiced Life of Plants'। 'दि स्पेक्टॅटर' के संपादक ने बसु के सम्मान में एक भोजोत्सव का आयोजन किया था। उस समय आमंत्रितों में जॉन ग्लासवर्दी, विलियम यीट्स, अल्फ्रेड नॉयस जैसे विख्यात साहित्यकार उपस्थित थे। अपने भोजपूर्व भाषण में उन्होंने बसु को 'भारत के सांस्कृतिक राजदूत' कहकर उनका सम्मान किया। बसु का आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं समन्वय की दृष्टि का उन साहित्यकारों पर गहरा असर पड़ा।

बसु का यह आखिरी विदेश दौरा था। अब वार्धक्य के कारण इतनी दूर की यात्राएँ करना उनके लिए कठिन हो रहा था। अनुसंधान के कार्य से भी वे अब दूर हो गए थे। मात्र दर्शन का कार्य कर रहे थे। किंतु 'ट्रांजेक्शंस' के संपादन का काम वे स्वयं करते थे। उच्च रक्तचाप तथा मधुमेह की व्याधियों से वे ग्रस्त थे। बिहार में स्थित गिरिडीह की जलवायु अच्छी होने के तथा कलकत्ता से नजदीकी के कारण वे अधिकतर समय वहीं रहते थे।

सन् 1931 में बड़ौदा सरकार ने 'श्री सयाजीराव गायकवाड़ पुरस्कार' से बसु को सम्मानित किया। उनकी संस्था को तीन वर्ष अनुदान देने की घोषणा भी की गई।

14 अप्रैल, 1931 को कलकत्ता महानगरपालिका ने बसु का प्रकट सम्मान किया। सुभाषचंद्र बोस उस समय कलकत्ता के महापौर थे। चंद्रशेखर वेंकटरमण, आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय, डॉ. नीलरतन सरकार आदि कलकत्ता स्थित मान्यवरों सहित श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय 'मुखर्जी', डॉ. राधाकृष्णन जैसे राष्ट्रीय नेता भी इस कार्यक्रम में उपस्थित थे।

सन् 1931 में ही रवींद्रनाथ की सप्ततिपूर्ति थी। उसे मनाने हेतु बंगाल में एक समिति का गठन किया गया। उसके अध्यक्ष थे जगदीशचंद्र। और मानो चार वर्ष पूर्व जगदीश दा की सप्ततिपूर्ति के समय हुए घटनाओं की पुनरावृत्ति हो, इसलिए ऐन वक्त पर जगदीश दा बीमार हो गए और प्रत्यक्ष उपस्थित रहना असंभव हो जाने के कारण अपना शुभचिंतन उन्होंने लिख भेजा। अपने इस 'चिरबंधु' को शुभाशीष देते हुए उन्होंने कहा, "रवींद्रनाथ एवं मेरे स्नेहबंध दृढ़ होने को अब तीन दशकों से अधिक का समय बीत चुका है। इस संपूर्ण काल में उनकी मैत्री की सुगंध मेरे आसपास महकती रही। इस काल में मुझे वैज्ञानिक अनुसंधान के माध्यम से वैश्विक एकता का साक्षात्कार हुआ। इसी वैश्विक एकता का ठाकुर की कवि दृष्टि को भी आकलन हुआ है तथा उसके गद्य साहित्य से भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है। उसकी यह दृष्टि नित्य विस्तृत होती रहे तथा संदेश विश्व के कोने-कोने तक पहुँचे, यही शुभकामनाएँ।"

अपना संदेश लोगों तक पहुँचाने हेतु रवींद्रनाथ ने शांति निकेतन में 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' की स्थापना की थी। उन्हीं के आग्रह पर बसु उसके उपाध्यक्ष रहे थे।

संयोग से, सन् 1931 में ही आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय की भी सप्ततिपूर्ति थी। जगदीश दा एवं राय बाबू निकट के स्नेही थे। दोनों के जीवन का प्रवास लगभग समानांतर ही हुआ था।

जगदीश इंग्लैंड में शिक्षा हेतु थे, तब दो वर्ष बाद ही प्रफुल्लचंद्र राय भी उसी हेतु वहाँ गए। उस समय से उनकी दोस्ती थी। जगदीश दा पदवी प्राप्त करके सन् 1885 में भारत लौटे और प्रेसीडेंसी कालेज में प्राध्यापक बने। राय बाबू भी रसायन-विज्ञान की डी.एस-सी. पदवी प्राप्त करके सन् 1988 में भारत लौटे और बसु के प्रयासों से उसी महाविद्यालय में अध्यापन करने लगे। बसु को हुई अवमानना का अनुभव उन्हें भी सहना पड़ा। इंग्लैंड से लौटने पर वे एक वर्ष तक बसु के घर ही, मछुआ बाजार में रहते थे। अबला दी ने अपने इस देवर को प्यार से सँभाला। आचार्य राय भी आगे महान् अनुसंधानकर्ता बने। इसके अलावा उनका एक महत्त्व का गुण था—उद्योगिकता। 'बंगाल केमिकल्स' की स्थापना उन्होंने की तथा उस उद्योग को श्रेष्ठ उद्योगों में से एक बनाया। सन् 1931 में उनकी सप्ततिपूर्ति थी। उस समय आयोजित समारोह में जगदीश का भाषण पढ़ा गया, सर राय अव्वल दर्जे के अनुसंधानकर्ता तो हैं ही, किंतु उसके साथ भारत की आर्थिक उन्नति हेतु उद्योगों की आवश्यकता महसूस करनेवाले आद्य द्रष्टाओं में से भी वे एक हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने अपनी अल्प संपत्ति की बाजी लगाकर एक छोटा उद्योग आरंभ किया। आज वह सबसे यशस्वी कहा जा सकता है। अनुसंधानकर्ता एवं उद्योगपति दोनों रूपों में उन्होंने महान् राष्ट्र-कार्य किया है। सादगी भरा रहन-सहन, स्वयं-अनुशासन, अखंड कार्यमग्नता, दातृत्व—ये सभी गुण एक व्यक्ति में होने का सर राय जैसा दूसरा उदाहरण शायद ही होगा। युवा पीढ़ी के सामने रखा जाए, ऐसा दूसरा कोई आदर्श नहीं है।

जगदीश दा अब थक गए थे। दैनंदिन कार्यों से स्वयं को उन्होंने अब लगभग किनारे कर दिया था। मात्र कार्य करनेवालों को मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन देने की भूमिका ही वे निभा रहे थे। किंतु अनुसंधान कार्य पर उनकी कड़ी निगरानी थी। 'ट्रांजैक्शन्स' का संपादन भी वे स्वयं करते थे।

सन् 1934 में गांधीजी को कई बार बसु की याद आई। वैसे तो गांधीजी के लेखन में बसु एवं राय का उल्लेख 'आदर्श वैज्ञानिक' करके कई बार आता था। इस बार वह आया खादी के संदर्भ में। 15 अक्तूबर, 1934 के 'हरिजन' में खादी पर लिखते समय गांधीजी ने कहा, "खादी के विज्ञान को उच्च दर्जे के तांत्रिक एवं यांत्रिक विज्ञान की तथा एकाग्रता की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी वनस्पतियों पर प्रयोग करते समय सर जगदीशचंद्र बसु को एकाग्रता करनी पड़ती होगी! उसी वर्ष 14 दिसंबर को वर्धा में अखिल भारतीय ग्रामीण उद्योग समिति की स्थापना हुई। जे.सी. कुमारप्पा उसके संघटक सचिव थे। समिति के परामर्शदाता के रूप में बसु की नियुक्ति की गई। उनके अलावा रवींद्रनाथ, आचार्य राय एवं चंद्रशेखर वेंकटरमण भी नियुक्त किए गए।

सन् 1935 में बसु के प्रेसीडेंसी कॉलेज से बने संबंधों की अर्धशताब्दी थी। उसके उपलक्ष्य में छात्रों ने उनका भव्य सम्मान-समारोह आयोजित किया। अध्यक्ष थे आचार्य राय। छात्र एवं प्राध्यापकों ने बसु का शाब्दिक गौरव तो किया ही, उनकी एक कांस्य प्रतिमा भी प्रयोगशाला में स्थापित की। जहाँ आरंभिक काल में उनके कार्य में बाधाएँ डाली गईं, बंधन लाए गए, उसी स्थान पर उनका 50 वर्ष के बाद गौरव हुआ, प्रतिमा खड़ी की गई। क्या

इसे परकीय शासन पर काल द्वारा लिया गया प्रतिशोध कहा जाए?—बसु ने तो वैसा नहीं माना होगा। उन्होंने प्रतिशोध की भावना से कभी कुछ किया नहीं। एक महान् ध्येय सामने रखकर उसकी प्राप्ति हेतु वे जीवन भर अग्रसर रहे। उनका कार्य देखकर शासन को उनके सामने झुकना ही पड़ा। वैसे तो सन् 1888 में ही कम वेतन न स्वीकारने के उनके साहस के सामने भी वह झुका ही तो था।

नवंबर 1937 में अबला दी गिरिडीह में ही थीं। 20 नवंबर को जगदीश ने 'ट्रांजैक्शन्स' के अंतिम मुद्रितों का शोधन किया और वे मुद्रणार्थ भेज दिए। 22 को 'इंस्टीट्यूट' के अधीक्षक होनेवाले उनके रिश्तेदार गिरिडीह आए थे। उनसे विस्तार से बातचीत करके बसु ने अपने लगभग साढ़े चार लाख रुपयों की निजी संपत्ति की व्यवस्था अपने पश्चात् कैसे की जाए, कौन से कार्य हेतु कितनी रकम दान की जाए, इसके बारे में सूचनाएँ दीं।

30 नवंबर को वे 80वें वर्ष में प्रवेश करने वाले थे। वह दिन कलकत्ता में 'बोस इंस्टीट्यूट' में मनाने की उनकी इच्छा थी।

लेकिन उनके हृदय को वह मान्य नहीं था। विश्व के अंतिम एकत्व की खोज में लगे तथा सत्य की प्रतिष्ठापना के लिए एकाकी जूझते एक महामानव का उन्होंने 79 वर्षों तक साथ दिया था। अब वह थक गया था।

23 नवंबर को सुबह बसु जब स्नान के लिए गए थे, तब उस हृदय ने चिरविश्राम लिया। जगदीश दा शांति से अनंत की यात्रा पर चले गए।

उनका पंच भौतिक शरीर कलकत्ता लाया गया। अंतिम दर्शन के लिए वह इंस्टिट्यूट में रखा गया। लोगों ने उनका वहाँ दर्शन किया। फिर वहाँ से गंगा के घाट तक अंतिमयात्रा निकली। कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति बॅ. श्यामाप्रसाद मुखोपाध्याय, विश्वविद्यालय एवं अन्य संस्थाओं के अध्यापक, कुछ शासकीय अधिकारी, हजारों छात्र एवं नागरिक उसमें सहभागी हुए। अनेक संस्थाओं ने पुष्पहार अर्पण किए। विश्वविद्यालय एवं प्रेसीडेंसी कॉलेज के पास अंतिम यात्रा रुकने पर वहाँ भारी भीड़ हुई।

गंगा के घाट पर ब्राह्म-समाज की पद्धति के अनुसार अंतिम संस्कार किए गए।

जो नाशवान् था, उसका पंचमहाभूतों में विलय हो गया।

जो अविनाश था, वह अभी तक शेष है—ज्ञाननिष्ठा, अनुसंधानपरकता, अंतःस्फूर्ति, कार्यमग्नता, लगन, निर्वैरता, वैश्विकता—सारा कुछ आज भी मार्गदर्शक है, प्रेरक है।

यथासमय चिता की अग्नि शांत हुई। अस्थि एवं रक्षा एक कलश में रखकर सम्मान से इंस्टीट्यूट लाया गया। 30 नवंबर को एक छोटे मंडप में कलश सम्मानपूर्वक रखा गया।

जिसकी राख एवं अस्थि कलश में है, उसके चैतन्य के स्पंदन आज भी देश-विदेश के हजारों अनुसंधानकर्ताओं को प्रेरणा दे रहे हैं।

11

जगदीशचंद्र के देहावसान से रवींद्रनाथ को भारी दुःख हुआ। किंतु उनका निजी स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। दो महीने पूर्व वे मृत्यु के महल की सीढ़ियों को स्पर्श करके वापस लौटे थे। वे अंतिम संस्कार को उपस्थित नहीं रह सके। किंतु तुरंत 24 नवंबर को उन्होंने अबला दी को सांत्वनापूर्ण पत्र लिखा, "तुमने उसे प्यार से एवं दक्षतापूर्वक सँभाला, उसका सदा साथ दिया। इस कारण तुम जीवन भर उदात्त कर्तव्यपूर्ति का अनुभव करोगी और उससे तुम्हारा दुःख विराट् हो जाएगा।"

अबला दी सचमुच धीरोदात्त स्वभाव की थीं। जगदीश दा की मृत्यु उन्होंने शांति से स्वीकार किया। वे विचलित नहीं हुईं—हिम्मत भी नहीं हारीं। जो कार्य दोनों मिलकर करते थे, वह उन्होंने अकेले ही जारी रखा। ऐसा तो नहीं होता कि पति-पत्नी दोनों एकसाथ चल बसें। कोई एक चला जाएगा, दूसरा अकेला जीवित रहेगा। फिर जो चला गया, उसका शोक करते बैठने से क्या लाभ? उसमें तो कार्य की हानि ही है। भावुक न होकर इस तात्त्विक भूमिका से अबला दी उसी ध्येय-पथ पर अग्रसर रहीं।

जीवन के अंत में जगदीश दा के पास 17 लाख रुपए थे। कर्ण की दानशीलता से प्रभावित एवं अशोक का आदर्श नित्य सामने रखनेवाले बसु ने यह पूरी रकम दान कर दी। उनकी इच्छा के अनुसार अबला दी ने विभिन्न संस्थाओं एवं कार्यों के लिए इस रकम का आवंटन किया। 13 लाख रुपए 'बोस इंस्टीट्यूट' के विश्‍वस्तों को सौंपे गए। 1 लाख रुपए बाबू राजेंद्र प्रसाद को (भावी राष्ट्रपति) बंगाली-बिहारी सौहार्द-संवर्धन के कार्य के लिए दिए गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय को 1 लाख रुपए, प्रेसीडेंसी कॉलेज को 50 हजार रुपए—ऐसे कुछ बड़ी रकम के दान थे। विभिन्न संस्थाओं को दान देते समय जगदीश दा ने कितना सूक्ष्म एवं विविधांगी विचार किया था, इसका एक उदाहरण लक्षणीय है। उनका बंगीय साहित्य परिषद् से निकट का संबंध था। इस संस्था को 3,000 रुपए का दान दिया जाए। उससे मिलने वाले ब्याज से अंग्रेजी वैज्ञानिक संज्ञाओं के बँगला प्रतिशब्द खोजकर उन्हें प्रचार में लाने का काम परिषद् करे, ऐसी इच्छा बसु ने व्यक्त की।

अपने जीवनकाल में जगदीशचंद्र ने थोड़ी-थोड़ी रकम विश्वस्त निधि के रूप में जमा की थी। उनकी जन्म-शताब्दी के समय तक वह 40,000 रुपए हुई। इसके ब्याज से अनुसंधानकर्ताओं को छात्रवृत्ति दी जाती है।

इस निधि से ही अबला दी को आजीवन कुछ रकम जीविका के लिए मिलने का प्रबंध

जगदीशचंद्र ने किया था। 25 अप्रैल, 1951 के इस निर्वाण दिन तक अबला दी को वह मिलती रही। अपनी कमाई से अबला दी ने लगभग साढ़े तीन लाख रुपयों की और एक विश्‍व निधि स्थापित की। उसके ब्याज से भी वैज्ञानिक एवं सामाजिक कार्य हेतु दान दिया जाता है।

अबला दी ने 'नारी शिक्षा समिति' की स्थापना की थी। उसके द्वारा बंगाल की लड़कियाँ एवं महिलाओं में सर्वसामान्य एवं यांत्रिक शिक्षा का प्रसार किया जाना था। इस शिक्षा से वे अच्छी गृहिणियाँ एवं माताएँ तथा समर्पित सामाजिक कार्यकर्ता भी बनीं, ऐसा समिति का उद्देश्य था। जगदीश दा के पश्चात् अबला दी ने अपने को इस कार्य में अधिक समय तक लगा दिया। अपने पिताश्री द्वारा स्थापित 'ब्राह्मो बालिका शिक्षालय' का कार्य भी वे देखती थीं। महिलाओं को व्यावसायिक शिक्षा देनेवाली 'विद्यासागर वाणी भवन' संस्था की स्थापना उन्होंने सन् 1919 में की थी। उसके प्रबंधन का कार्य भी वह अभी तक करती थीं।'

जगदीश दा ने अपने इच्छा-पत्र में महिला-शिक्षा का कार्य एवं निवेदिता का स्मारक बनाने के लिए 1 लाख रुपए रखे थे। 'वाणी भवन' में निवेदिता सभागृह का निर्माण करके अबला दी ने उनकी यह इच्छा पूर्ण की।

अबला दी का यह कर्तव्य देखकर इस दंपती के बारे में मन में गौरव की भावना उत्पन्न होती है। एक महान् कार्य हेतु ही भगवान् ने उन्हें दुनिया में भेजा, उनका ब्याह करवा दिया, ऐसा लगता है। जगदीश दा वैश्विक स्तर के वैज्ञानिक होते हुए भी अबला दी को घर के कामों में मदद करते थे। डिब्बों पर वस्तुओं के नाम की पर्चियाँ चिपकाने का काम उन्होंने ही किया था। और अपने पति उसके महान् कार्य में समर्पित रहे, गृहस्थी की चिंता उसे न सताए, इस दायित्व को अबला दी ने उठाया। जगदीश दा को प्रिय लगनेवाले मछली के सालन विदेश में भी बनानेवाली अबला दी ने उनके पश्चात् घर के बाहर का सामाजिक दायित्व भी ठीक तरह से निभाया। उन दोनों के परस्पर पूरक, परस्पर समर्पित जीवन से लाभ हुआ इस राष्ट्र का—पूरी दुनिया का।

जगदीशचंद्र के निधन के बाद शांतिनिकेतन में एक शोकसभा का आयोजन किया गया। उसमें बोलते समय रवींद्रनाथ ने उन दोनों के प्रदीर्घ मैत्री का स्मरण किया तथा बसु का गुण-वर्णन करके उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की, "जगदीश के पास एक कवि की तरह अंतःस्फूर्ति थी, जिससे उन्हें प्रकृति के रहस्य गोचर हो जाया करते। किंतु यह अनुभूति वे वैज्ञानिकता की तर्कनिष्ठ कसौटी पर चढ़ाकर परख लिया करते। मैं तो कवि हूँ ही, किंतु मेरा विज्ञान से विरोध नहीं है। जगदीश मुझे कहते कि मेरे पास विज्ञान की शिक्षा तो नहीं है, किंतु मेरी मानसिकता वैज्ञानिक है। हम दोनों के संबंध इतने मधुर तथा दृढ़ होने में दोनों में होनेवाला अंतःप्रज्ञा एवं तर्कप्रज्ञा का संयोग ही सबसे बड़ा कारण है।"

भाषण के अंत में उन्होंने निवेदिता का भी उल्लेख किया, "जगदीश के जीवन के सभी कठिन समय में उन्होंने उन्हें धीरज, आधार एवं प्रोत्साहन दिया। बसु के जीवन-कार्य का

स्मरण करते समय निवेदिता का गौरवपूर्ण उल्लेख जगह-जगह पर करना पड़ेगा।"

रवींद्रनाथ का भाषण 'मॉडर्न रिव्यू' में संक्षेप में प्रकाशित हुआ तो 'प्रवासी' में उन्होंने ही बँगला में एक मृत्युलेख लिखा।

बसु के निधन पर देश-विदेश से शोक-संदेश प्राप्त हुए। भारत तथा ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, अमेरिका आदि राष्ट्रों के समाचार-पत्रों ने उनके कार्य के संबंध में स्मृति लेख प्रकाशित किए।

23 नवंबर, 1938 को बसु का पहला स्मृति दिवस था। उस उपलक्ष्य में 'बोस इंस्टीट्यूट' में एक स्मृति सभा का आयोजन किया गया। प्रमुख वक्ता थे रवींद्रनाथ। बसु के कार्य की महानता तथा उनके और जगदीश दा के प्रदीर्घ स्नेह संबंधों के बारे में बोलने पर अंत में उन्होंने 'बोस इंस्टीट्यूट' से एक अपेक्षा व्यक्त की, "मैं यहाँ से दूर, पीढ़ियों से दुर्लक्षित रहे एवं मिट्टी में कष्ट उठानेवाले लोगों में रहता हूँ। उनका शोषण होता रहता है, किंतु उसे रोकने का ज्ञान उनके पास नहीं है। दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या काफी अधिक होगी। मेरा इस संस्था से आह्वान है कि विज्ञान की सहायता से क्रूरतापूर्ण व्यवहार करनेवाले लुटेरों से वह विज्ञान एवं दुनिया को बचाएँ तथा जिस उदात्त उद्देश्य से विज्ञान प्रेरित हुआ है, उस दिव्य कार्य के लिए उसे मुक्त करें।"

जगदीश दा की जीवन भर यही कोशिश रही—भारत का अभ्युदय कैसे हो एवं उस हेतु विज्ञान कैसे सहायक हो, यही उनके नित्य चिंतन का विषय था। उनके अनुसंधान का उपयोग खेती में होगा, अनाज का उत्पादन बढ़ेगा, उससे भूखे लोगों का पेट भरकर उनके चेहरे पर मुसकान दिखाई देगी, इसका हर्ष उन्हें था। बसु के प्रयोगशाला में किए प्रयोग तथा रवींद्रनाथ के शांतिनिकेतन में किए प्रयोग, इनका स्वरूप भिन्न क्यों न हो, किंतु 'अनाज की पैदावार बढ़े', यह उद्देश्य समान ही था। दीन-दुःखी, पीड़ितों के प्रति करुणा समान थी। बसु की पहली पुण्यतिथि के अवसर पर उनका स्मरण करते समय रवींद्रनाथ के मुख से यही करुणा शब्द रूप में प्रकट हुई।

बसु के निधन को आज कई दशक बीत चुके हैं। किंतु, जिस उद्देश्य एवं भावना से उन्होंने भारत के उत्थान के लिए कार्य किया, वे आज भी आवश्यक हैं। अपने राष्ट्र का निर्माण मैं करूँगा—उसे वैभव की चोटी पर ले जाऊँगा, ऐसा कहकर कार्य करनेवाले अनेकानेक बसु आज भी आवश्यक हैं। आज दशकों बाद भी बसु का, उनके गुणों का, ज्ञान का स्मरण इसीलिए करना है

स्मरण करना है उनकी ज्ञाननिष्ठा का।

स्मरण करना है उनकी अनुसंधानपरता का।

स्मरण करना है उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का।

स्मरण करना है उनकी अंतः-स्फूर्ति का।

स्मरण करना है यह अंतःस्फूर्ति तर्क की कसौटी पर चढ़ाकर परख देने की उनकी वैज्ञानिकता का।

स्मरण करना है उनकी प्रयोगशीलता का।

स्मरण करना है उनके उपकरण बनाने के कौशल का।

स्मरण करना है उनकी अध्यापन-कुशलता का।

स्मरण करना है उनकी अखंड कार्यमग्नता का।

स्मरण करना है उनकी लगन एवं दीर्घोद्योग का।

स्मरण करना है विरोधकों के सामने सीधे खड़े रहने के उनके आत्मविश्वास का।

स्मरण करना है उनकी निर्वैरता का।

स्मरण करना है उनके एकत्व-प्रस्थापन के ध्येय का।

स्मरण करना है उनके निर्लोभ स्वाभाव का।

स्मरण करना है उनकी दानशीलता का।

स्मरण करना है उनकी राष्ट्रभक्ति का।

बोशू दा,

आप राष्ट्रभक्त थे, इसीलिए तो इस गुण संपदा का अतीव महत्त्व है। अन्यथा इस गुण संपदा के साथ आप अगर पश्चिम चले जाते तो यहाँ का अँधेरा न जाने कितने समय तक बना रहता!

आपकी राष्ट्रभक्ति के कारण ही इस राष्ट्र में विज्ञान का सवेरा हुआ, बोशूदा! इस राष्ट्र में शतकों तक चले तमोयुग का भेद करनेवाली पहली विज्ञान-रश्मि आप ही थे।

परिशिष्ट **1**

जगदीशचंद्र बसु : जीवन-पथ

1858 : 30 नवंबर को मैमनसिंग में जन्म।

1863 : बँगला माध्यम की प्राथमिक पाठशाला में।

1869 : कलकत्ता के 'हेअर स्कूल' में। तीन महीने बाद 'सेंट जेवियर्स' में।

1875 : मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण। प्रवेश-परीक्षा में यश संपादन कर 'सेंट जेवियर्स' कॉलेज में विज्ञान शाखा में प्रवेश।

1880 : बी.ए. उत्तीर्ण। अगली शिक्षा हेतु लंदन विश्वविद्यालय में, चिकित्सा के पाठ्यक्रम के लिए प्रवेश।

1881 : अस्वस्थता के कारण वह पाठयक्रम छोड़ देने पर कैंब्रिज के क्रिश्चियन कॉलेज में विज्ञान के पदवी-पाठ्यक्रम के लिए प्रवेश।

1884 : कैंब्रिज की ट्रायपॉस एवं लंदन विश्वविद्यालय की बी.एस-सी. पदवी साथ साथ प्राप्त। भारत वापसी।

1885 : कलकत्ता के 'प्रेसीडेंसी कॉलेज' में भौतिक-विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त। कम वेतन के विरोध में वेतन न स्वीकारने का सत्याग्रह आरंभ।

1887 : अबला दास के साथ विवाह।

1888 : सत्याग्रह यशस्वी। तीन वर्ष का पूरा वेतन प्राप्त। उसमें से पैतृक ऋण की वापसी।

1890 : पिता भगवानचंद्र का देहांत।

1891 : माँ भामासुंदरी का देहांत।

1894 : 36वीं वर्षगाँठ के दिन अगली पूरी आयु अनुसंधान कार्य में ही व्यतीत करने की प्रतिज्ञा। 'विद्युत्-चुंबकीय तरंग एवं बेतार संदेशों का आदान-प्रदान' विषय में अनुसंधान आरंभ। अनेक नवीनता-युक्त उपकरणों का निर्माण।

1895 : कलकत्ता के टाउन हॉल में जनता के सामने बेतार संदेशवहन का प्रकट प्रयोग।

प्रसिद्ध संस्थाओं को निबंध भेजने का आरंभ।

1896 : लंदन विश्वविद्यालय की डॉ. ए साइंस पदवी प्राप्त व व्याख्या एवं वैज्ञानिकों से चर्चा हेतु पहले विदेश दौरे पर रवाना।

1897 : 29 जनवरी को रॉयल इंस्टीट्यूशन में शुक्रवार शाम का व्याख्यान। ब्रिटेन से फ्रांस, जर्मनी का दौरा। अप्रैल में वापस भारत सरकार की ओर से अनुसंधान कार्यार्थ वार्षिक 2,000 रुपए का अनुदान आरंभ। रवींद्रनाथ ठाकुर से परिचय।

1898 : भगिनी निवेदिता से परिचय।

1900 : अगस्त में पेरिस में हुई पदार्थ-वैज्ञानिकों की परिषद् में भारत के प्रतिनिधि के रूप में सहभागी। अनुसंधान हेतु दो वर्ष तक इंग्लैंड में ही रहने का विचार, किंतु छुट्टी एवं पैसों की समस्या।

1901 : 10 मई को रॉयल इंस्टीट्यूशन में शुक्रवार शाम का व्याख्यान। 6 जून को रॉयल सोसाइटी में व्याख्यान। वहाँ कुछ वैज्ञानिकों से जोरदार विरोध। उस निबंध को प्रकाशित न करने का सोसाइटी का निर्णय।

1902 : 21 मार्च को 'लिनियन सोसायटी' में व्याख्यान। प्रतिपादन का निर्विरोध स्वागत। अनुसंधान-चोरी का आरोप, किंतु जाँच में वादा ही वादे होने का पता चला। वनस्पतियों के प्रतिसादों के संबंध में अनुसंधान जोर से आरंभ। अक्तूबर में पहला ग्रंथ प्रकाशित। उसी महीने वापसी ।

1903 : आगे 'वनस्पति' विषय में अनुसंधान-कार्य करने का निश्चय। जनवरी में सरकार द्वारा CIE की उपाधि घोषित।

1906 : दूसरा ग्रंथ प्रकाशित।

1907 : तीसरा ग्रंथ प्रकाशित। सितंबर में तीसरे यूरोप-दौरे के लिए प्रस्थान।

1908 : सितंबर में इंग्लैंड से अमेरिका में। अच्छा स्वागत।

1909 : जुलाई में वापस।

1911 : 14 अप्रैल से मैमनसिंग में हुए 'बंगीय साहित्य सम्मेलन' के अध्यक्ष। 13 अक्तूबर को भगिनी निवेदिता का देहांत।

1912 : कलकत्ता विश्वविद्यालय की सम्माननीय डी.एस-सी. की उपाधि। भारत सरकार ने CSI की उपाधि से सम्मानित किया।

1913 : चौथा ग्रंथ प्रकाशित। अवकाश ग्रहण का वर्ष, किंतु दो वर्ष का सेवाकाल भी

बढ़ाया गया।

1914 : चौथा पश्चिम दौरा। ब्रिटेन, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, अमेरिका तथा वापस लौटते समय जापान में व्याख्यान।

1915 : अवकाश ग्रहण के समय एमिरेटस प्रोफेसर का सम्मान।

1916 : बंगीय साहित्य परिषद् के एकमत से अध्यक्ष।

1917 : 59वीं वर्षगाँठ के दिन, 30 नवंबर को, सर की उपाधि से सम्मानित। बोस इंस्टीट्यूट का उद्घाटन।

1919 : नवंबर में पाँचवें पश्चिम दौरे पर।

1920 : 13 मई को रॉयल सोसाइटी द्वारा फेलो स्वीकृत। फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन तथा ऑस्ट्रिया का दौरा।

1921 : 25 जनवरी को कलकत्ता में नागरिक सम्मान।

1923 : छठे यूरोप दौरे पर।

1924 : पाँचवाँ ग्रंथ प्रकाशित।

1925 : एक-एक ग्रंथ का जर्मन तथा फ्रेंच में अनुवाद प्रकाशित।

1926 : 'लीग ऑफ नेशंस' का 'कमेटी ऑन इंटेलेक्चुअल को-ऑपरेशन' के सदस्य मनोनीत। उसकी अप्रैल में हुई बैठक के लिए जेनेवा में। बाद में इंग्लैंड गए। छठा ग्रंथ प्रकाशित।

1927 : लाहौर में आयोजित 'इंडियन साइंस कांग्रेस' के अध्यक्ष। आठवीं बार यूरोप में। जेनेवा के बाद फ्रांस एवं बेल्जियम में। कुछ निबंधों का संकलन सातवें ग्रंथ में प्रकाशित। आठवाँ ग्रंथ भी प्रकाशित। 'बोस इंस्टीट्यूट' की दशकपूर्ति।

1928 : नौवाँ विदेश दौरा। जेनेवा के बाद ऑस्ट्रिया के विएना में। आठवें ग्रंथ का जर्मन अनुवाद। विएना से कैरो। 30 नवंबर को सप्ततिपूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मान। नौवाँ ग्रंथ प्रकाशित।

1929 : दसवाँ विदेश दौरा। जेनेवा के बाद इंग्लैंड में। दसवाँ ग्रंथ।

1931 : 'श्री सयाजीराव गायकवाड़ पुरस्कार' से सम्मानित। 14 अप्रैल को कलकत्ता महानगर पालिका की ओर से प्रकट सम्मान। रवींद्रनाथ के 'सप्ततिपूर्ति समारोह समिति' के अध्यक्ष।

1934 : 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग समिति' की परामर्श समिति में।

1935 : 'प्रेसीडेंसी कॉलेज' से संबंधों के 50 वर्ष के उपलक्ष्य में छात्रों की ओर से सम्मानित।

1937 : 23 नवंबर को गिरिडीह् में देहांत। कलकत्ता में अंतिम संस्कार।

परिशिष्ट **2**

बसु के ग्रंथ

चरित्र-कथन में इन सभी ग्रंथों का उल्लेख यथास्थान आया ही है। यहाँ उनकी सूची कालानुक्रम से दी गई है। कोष्ठक में दिया वर्ष ग्ंरथ के प्रकाशन का है।

(क) बसु के लिखे अंग्रेजी ग्रंथ—

1. रिस्पॉन्स इन द लिविंग एंड नॉन-लिविंग। (1902)
2. फॉर रिस्पॉन्स इज अ मीन्स ऑफ फिजियोलॉजिकल इन्वेस्टिगेशन। (1906)
3. कॉपरेटिव इलेक्ट्रो फिजियोलॉजी। (1907)
4. रिसर्चेस ऑन इरिटॉबिलिटी ऑफ प्लांट्स। (1912)
5. द फिजियोलॉजी ऑफ फोटोसिंथेसिस। (1924)
6. नर्वस मेकेनिज्म ऑफ प्लांट्स। (1926)
7. कलेक्टेड फिजिकल पेपर्स। (1927)
8. फॉर ऑटोग्राफ्स एंड देअर रिवीलेशंस। (1927)
9. द मोटर मेकेनिज्म ऑफ प्लांट्स। (1928)
10. ग्रोथ एंड ट्रॉपिक मूवमेंट्स ऑफ प्लांट्स। (1929)

(ख) बसु के संपादित किए ग्रंथ—

1918 से बोस इंस्टीट्यूट में हुआ अनुसंधान 'ट्रांजेक्शंस ऑफ द बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट' के वार्षिक खंडों के रूप में प्रकाशित होने लगा। इनका संपादन बसु अंत तक करते रहे। इनमें से कुछ खंड विशिष्ट शीर्षकों से प्रकाशित हुए—

1. खंड 1 : 1918
2. खंड 2 : 1919
3. खंड 3 : 1920 'लाइफ मूवमेंट्स इन प्लांट्स' शीर्षक से
4. खंड 4 : 1921 एक साथ प्रकाशित
5. खंड 5 : 1923; 'द फिजियोलॉजी ऑफ दि एसेंट ऑफ सैप' शीर्षक से।
6. खंड 6 : 1932; 'लाइफ मूवमेंट्स इन प्लांट्स' शीर्षक से।
7. खंड 7 : 1933
8. खंड 8 : 1934

9. खंड 9 : 1935
10. खंड 10 : 1936
11. खंड 11 : 1937

(ग) बँगला ग्रंथ—

अव्यक्त (1921) बँगला लेखों एवं भाषणों का संग्रह।

परिशिष्ट **3**

बसु के उपकरण एवं उनकी कार्य-पद्धति

बसु ने पहले भौतिक-विज्ञान में 'विद्युत् चुंबकीय तरंग' विषय में अनुसंधान किया, किंतु उनका वह कार्य विस्मृत-सा हो गया है। इस अनुसंधान हेतु निर्मित उपकरणों की जानकारी उपलब्ध नहीं हुई, इसलिए यहाँ वनस्पतियों के प्रतिसाद एवं अन्य क्रियाओं का ज्ञापन करनेवाले प्रमुख उपकरणों की जानकारी ही दी गई है—

1. सिंगल लीवर, 24 अवर्स, ऑसिलेटिंग प्लेट रिकॉर्डर
2. ऑपरेट्स फॉर रिकॉर्डिंग द पल्सेटरी मूवमेंट ऑफ 'डस्मोडियम गायरेंस'
3. कंपाउंड लीवर क्रेस्कोग्राफ
4. बैलेंस्ड क्रेस्कोग्राफ
5. रेजोनेंट रिकॉर्डर
6. फोटोसिंथेसिस रिकॉर्डर
7. डेथ रिकॉर्डर
8. ब्लंड पोटोमीटर
9. ऑप्टिकल स्फिग्मोग्राफ
10. इलेक्ट्रिक प्रोब
11. मैग्नेटिक क्रेस्कोग्राफ
12. एक्जुडेशन रिकॉर्डर
13. फायटोग्राफ

इनमें से कुछ उपकरणों की रचना एवं कार्य-पद्धति इस प्रकार है—*

क्र. **5 :** रेजोनंट रिकॉर्डर

वनस्पति के संदेश वाहन की गति नापने के लिए इसका उपयोग होता है।

गमले में छुईमुई का एक पौधा है। उसकी एक पर्णिका को बारीक धागे से 'त' इस उत्तोलक की एक भुजा बाँधी है। लेखन करनेवाली लंबी सूची उत्तोलक को लंब कोण में जोड़ी हुई है। उससे लेखन होता है 'क' इस कालिख से रँगे कृष्ण फलक पर कृष्ण फलक को नीचे लाने की युक्ति है। वह नीचे आते समय 'ख' कल दब जाते ही विद्युत् परिपथ पूरा होकर पौधे को बिजली का हलका झटका मिलता है। झटके के कारण पत्ते मिटकर पर्णिका भी मुरझाता है।

इससे उससे बाँधा धागा नीचे खींचा जाता है, जिससे सूची फलक पर रेखन करती है। सूची के लगातार रेखन के घर्षण से रेखन में गलती हो सकती है। इसलिए सूची फलक पर विशिष्ट कालांतर से मात्र हलका आघात करे, इसकी योजना आंदोलक 'अ' के जरिए की गई है। उसकी स्प्रिंग इस तरह से जमाई जा सकती है कि वह सेकंड में 10 बार या 100 बार या 200 बार आंदोलित हो। सूची उतनी बार फलक पर आघात करती है।

इस आकृति में 200 आंदोलन प्रति सेकंड को समायोजित सूची में आरेखित की बिंदु रेखा दरशाई गई है। यानी कि दो बिंदुओं के बीच का अंतर 0.005 सेकंडों का है। जिस समय बिजली का झटका दिया गया, वह खड़ी रेखा से दिखाया गया है। पर्णिका मुरझानो का आरंभ 15.2 बिंदुओं के बाद हुआ है। यानी कि उत्तेजना एवं प्रतिसाद में 15.2 ×0.005=0.076 सेकंड का सुप्तकाल है। वनस्पति एवं तापमान के अनुसार यह बदलता है।

जिस स्थान पर बिजली का झटका दिया गया है वहाँ से पर्णिका के डंठल तक की दूरी को इस समय से भाग दिया तो संवेदना-वहन की गति ज्ञात होती है।

क्र. **6 :** फोटोसिंथेसिस रिकॉर्डर

प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में वनस्पति द्वारा कितनी प्राणवायु (Oxygen) बाहर छोड़ी गई है, इसका मापन इस उपकरण से होता है।

एक बोतल में 'व' वनस्पति पानी में रखा है। बोतल के मुँह को एक वक्र नलिका जोड़ा गया है। वक्र नलिका का दूसरा मुख पारे की बूँद से बंद किया गया है। वनस्पति द्वारा उत्सर्जित प्राणवायु का बुलबुला पारे की बूँद को ऊपर ढकेलकर हवा में चला जाता है। पारा ऊपर उठते ही विद्युत् परिपथ पूरा होकर 'घ' घंटी बजती है तथा विद्युत् चुंबक कार्यान्वित होकर 'ल' लेखनी को नीचे खींचता है, जिससे विशिष्ट गति से घूमनेवाले 'न' दंडगोल पर एक बिंदु आरेखित होता है। बुलबुला निकल जाने पर पारा नीचे गिरता है, जिससे परिपथ खंडित होता है। बुलबुले के समय फिर बिंदु का अंकन होता है।

बगल के आलेख में सुबह 7.30 से लेकर शाम 5.00 बजे तक हर बार 5 मिनट के लिए किया निरीक्षण दरशाया है। सुबह 7.30 बजे 5 मिनटों में मात्र 4 बुलबुले उठे। दोपहर 12 को यह गति 19 बुलबुलों तक बढ़ गई। शाम तक वह फिर कम होती गई।

क्र. **9 :** ऑप्टिकल स्मिग्मोग्राफ

जीवन रस के बहते समय पेशियों को होनेवाले आकुंचन-प्रसरण का मापन इस उपकरण से किया जाता है।

वनस्पति का तना '49' 'पर' इन धारवाले पच्चरों के बीच पकड़ा जाता है। '49' स्थिर है तो 'पर' को साही का काँटा जोड़ा हुआ है। यह काँटा एक ओर खड़े अक्ष से जोड़ा हुआ है तो

दूसरी ओर उसमें रेशम का एक धागा बँधा हुआ है। यह धागा 'अ' आईने के खड़े अक्ष को एक लपेटा देकर दूसरी ओर तेल से भरे 'त' पात्र में वजन लगाकर छोड़ा गया है। आईने पर 'प्र' प्रकाश-स्रोत से एक किरण डाली गई है।

तने का आकुंचन होने पर 'पर' पच्चर अंदर खींचा जाता है। उससे काँटा भी अंदर हो जाता है। इससे रेशम का धागा आईने को वामावर्ती दिशा में (anti-closkwise) घुमाता है। आईना घूमने पर प्रकाश किरण सामनेवाली दीवार पर बाईं ओर हो जाती है।

तने का प्रसरण होने पर 'पर' बाहर ढकेली जाती है, काँटा भी बाहर की ओर जाता है। आईना दक्षिणवर्ती में (Clockwise) घूमता है। प्रकाश किरण अब दाहिनी ओर हो जाती है।

तने के सूक्ष्म संकोच प्रसरण का 10 लक्ष गुना बड़ा चित्र सामनेवाली दीवार पर दिखाई देता है।

विभिन्न उत्तेजक, अपतेजक, विष इनके परिणाम नापने हेतु भी इस उपकरण का उपयोग किया जा सकता है।

क्र. 13 : फायटोग्राफ

वनस्पति की आंदोलनात्मक हलचल का रेखन करने हेतु इसका उपयोग होता है।

'डेस्मोडियम गायरेंस' (टेलीग्राफ फॉर) के पत्ते नित्य आंदोलित होते रहते हैं। पर्ज को जोड़ा रेशमी धागा दूसरी ओर एक उत्तोलक की छोटी भुजा से जोड़ा हुआ है। उत्तोलक की दूसरी (लंबी) भुजा एक कृष्ण पटल पर बिंदु अंकित करती है। पटल विशिष्ट गति से बाईं ओर करने की व्यवस्था है। पर्ण के ऊपर-नीचे होने वाले आंदोलन कृष्ण पटल पर चित्रित हो जाते हैं।

कुछ परिवर्तन करके इस उपकरण से वनस्पति की विशिष्ट काल में होनेवाली वृद्धि भी नापी जा सकती है।

परिशिष्ट **4**

रेडियो की खोज किसकी : मार्कोनी की या बसु की?

भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में यह विषय एक शतक भर से विवाद का बना हुआ है। 'रेडियो' की खोज यद्यपि अधिकृत तौर पर इटली के वैज्ञानिक मार्कोनी के नाम पर दर्ज है, पर वैज्ञानिक खुले दिल से यह बात स्वीकार नहीं करते। मार्कोनी का नाम संशय के कुहरे से घिरा हुआ है। रेडियो के अनुसंधानकर्ता मार्कोनी न होकर बसु हैं, ऐसा माननेवाले भी कुछ हैं।

सन् 1997-98 में इस कुहरे का विलय होकर सत्य स्पष्टता से सामने आया क्या था सत्य?

इसका आरंभ हुआ 1984 में। 'नासा' में काम करनेवाले एक भारतीय वैज्ञानिक प्रो. प्रवरि बंद्योपाध्याय से मार्कोनी की द्वितीय पुत्री जी. मार्कोनी ब्रॅगा ने संपर्क करके उनसे सहायता माँगी। वे मदद चाहती थीं। उसी वर्ष 'न्यूयॉर्क टाइम्स' में प्रकाशित एक लेख में बताए गए 'असत्य' का परिहार करने के लिए। उस लेख में कहा गया था कि 'मार्कोनी ने नहीं, अमेरिका के निकोला टेस्ला ने 'रेडियो' की खोज की।' मार्कोनी की पुत्री इस पर आक्षेप दर्ज करना चाहती थीं।

प्रो. बंदोपाध्याय को कई वर्षों तक भरोसेमंद सुबूत मिल नहीं रहा था। ऐसे में सन् 1991 में ब्रिटेन के प्रो. विवियन फिलिप्स ने 'The Marconi Scandal.' इस लेख में एक विधान ऐसा किया कि 'मार्कोनी ने रेडियो संदेशों के ग्रहण हेतु जो संदेश ग्राहक (डिटेक्टर) उपयोग में लाया था, वह उनकी खोज नहीं थी। किंतु यह खोज किसकी है, इसका उल्लेख प्रो. फिलिप्स ने नहीं किया।

प्रो. बंदोपाध्याय ने इस लेख के आधार पर तलाश आरंभ की। सन् 1997 में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वह संदेश ग्राहक सन् 1898 में बसु ने ही खोजा था।

अब पूरा चित्र, जो स्पष्ट हो जाता है वह ऐसा है—बसु ने अपना एक निबंध प्रकाशन हेतु 'रॉयल सोसाइटी' को भेजा था, जो अप्रैल 1899 में प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था—'On a Self-Recovering Coherer and the study of Cohering Action of Diifferent Metals'। उसमें उन्होंने इस संदेश ग्राहक की जानकारी दी थी। उस समय बहुत सारे देशों के अनुसंधानकर्ताओं ने कई संदेश ग्राहक बनाए थे; किंतु किसी एक की क्षमता भी सहस्रों मील दूरी से आनेवाले रेडियो संदेश पकड़ सके, इतनह्म् नहीं थीं। मार्कोनी भी यहीं अड़े हुए थे। समस्या थी—दो योग्य धातुओं का चयन करने की तथा उनके जोड़ की। बसु ने 'लोहा पारा लोहा' नाम से जानी जानेवाली रचना की एक वक्र नलिका में पारा भरा और नलिका के दोनों मुखों से लोहे की बारीक तार उससे जोड़ी। साथ में दूरभाष की श्रवणिका

का उपयोग किया। (Iron-Mercury-Iron Coherer with Telephone Detector) यह संदेश ग्राहक अत्यंत संवेदनशील था। सन् 1989 में किसी समय बसु ने वह खोजा।

मार्कोनी इसी क्षेत्र में अनुसंधान कर रहे हैं, इसकी जानकारी बसु को भली भाँति थी। सन् 1896 में बसु जब अपने पहले दौरे में इंग्लैंड में थे, तब मार्कोनी भी वहीं थे। 'ब्रिटिश पोस्ट ऑफिस' के लिए वे बेतार संदेश वहन के क्षेत्र में अनुसंधान कर रहे थे। एक ही क्षेत्र में कार्य कर रहे इन दो वैज्ञानिकों का साक्षात्कार 'मॅक्क्ल्युअर्स मॅगॅझिन' ने मार्च 1897 में प्रकाशित किया था। उसमें बसु ने मार्कोनी की सराहना की थी। यह बात पाठकों को कुछ अचरज सा लगा, क्योंकि वार्षिक परीक्षा में अच्छे गुण प्राप्त न कर पाने के कारण महाविद्यालय में प्रवेश न मिल पाए, मार्कोनी की बुद्धिमत्ता के बारे में तत्कालीन वैज्ञानिकों के मन में संशय था।

इसी दौरे में बसु ने एक बात बार-बार स्पष्ट की कि बेतार संदेश वहन व्यवसाय में उन्हें जरा भी रुचि नहीं थी तथा उनके अनुसंधान का कोई भी मुक्त उपयोग कर सकता था।

बाद में, सन् 1898 में बसु ने यह संदेश ग्राहक बनाया। उसका स्वामित्वाधिकार उन्होंने नहीं लिया।

17 मई, 1900 को 'रॉयल इंस्टीट्यूशन' में हुए व्याख्यान के बाद 'कृत्रिम नेत्र' तथा इस संदेश ग्राहक की जानकारी देनेवाली उनकी नोटबुक किसी ने चुरा ली थी।

यह संदेश-ग्राहक मार्कोनी की चाह के अनुसार था। उन्होंने लेफ्टिनेंट सोलारी की मदद से उसमें एक परिवर्तन किया। बसु की वक्र नलिका के बजाय सीधी नलिका का उपयोग। यह स्वयं की खोज के स्वामित्वाधिकार तथा व्यापारी अधिकार मार्कोनी ने तुरंत ले लिये। 12 दिसंबर, 1901 को दोपहर 12:30 बजे इंग्लैंड के पोल्धू से भेजे रेडियो संदेश अटलांटिक महासागर के पार न्यू फाउंडलैंड द्वीप पर सेंट जॉन्स में ग्रहण करने में यशस्वी होकर उन्होंने इतिहास रचा।

प्रो. प्रवरि बंदोपाध्याय तथा उनके सहकारी अब सप्रमाण कहते हैं कि "पूरे शतक भर वैज्ञानिक जगत् में जो धारणा थी कि मार्कोनी द्वारा उपयोजित संदेश ग्राहक उनका खोजा हुआ नहीं था, वह सत्य साबित हुई है। उसका श्रेय भले देरी से भी क्यों न हो, बसु को ही मिलना चाहिए।"

लेकिन क्या इससे यह कहा जा सकता है कि 'रेडियो' की खोज बसु की थी? इस संबंध में हमें वस्तुनिष्ठता से विचार करना पड़ेगा। वैसा करने पर दो मुद्दे सामने आते हैं। पहला यह कि बसु के प्रयोग चल रहे थे सूक्ष्म तरंगों पर (लंबाई 5 मि.ग्रा.), तो मार्कोनी का काम चल रहा था अतिदीर्घ लंबाईवाले (1,000 मीटर) तरंगों पर। सूक्ष्म तरंगों की एक श्लाघा बन पाती है, किंतु वे कम दूरी तक ही प्रभावी होते हैं। जहाज से बंदरगाह जैसे कम दूरी में ही उनका उपयोग हो सकता है। उनका ऐसा उपयोग हो सकता है, यह जानते हुए भी बसु को उनके ऐसे व्यावहारिक उपयोजन में रुचि नहीं थी। व्यापारी न होकर वैज्ञानिक होने के

कारण वे उनका स्वरूप निश्चित करने को उत्सुक थे। मार्कोनी को रुचि थी दीर्घ लंबाईवाले तरंगों को एक स्थान से प्रेषित करके विस्तृत क्षेत्र पर उनका ग्रहण करनेवाली व्यावसायिक यंत्र (रेडियो) में। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि ये दो क्षेत्र भिन्न हैं। मार्कोनी के स्वयं न खोजे संदेश-ग्राहक के स्वामित्वाधिकार लेना नैतिक दृष्टि से जैसे अनुचित है, वैसे ही न किए प्रयोगों का श्रेय बसु को देना भी अनुचित होगा। बसु के प्रयोग रेडियो तरंगों पर कभी नहीं रहे।

दूसरा मुद्दा यह कि क्या मार्कोनी ने बसु का अनुसंधान 'चुराया'?

वैसा तो दिखाई नहीं देता। बसु ने जिसके स्वामित्वाधिकार लिये ही नहीं, जो अनुसंधान व्यावसायिक आर्थिक लाभ हेतु उपयोग करने के लिए भी खुला रखा, उसका अगर मार्कोनी ने उपयोग किया तो क्या गलत है। वह 'चोरी' नहीं कही जा सकती। हम शायद इतना कह सकते हैं कि मार्कोनी को बसु के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए थी। वह बात प्रामाणिकता की, संस्कार की एवं शोभनीय रहती। 'मेरे यश में बसु का योगदान बहुत बड़ा है, ऐसा मार्कोनी कहते तो उनकी ऋजुता एवं बड़े मन का प्रत्यय आता। मार्कोनी को उनका श्रेय मिलता, बसु को उनके अनुसंधान का।

लेकिन क्या यह बहस ही निरर्थक नहीं है? जिनको उनका श्रेय मिलने के लिए हम झगड़ रहे हैं, उन बसु को कभी उस श्रेय की चाह थी ही नहीं। मार्कोनी यशस्वी रहे, तब बसु इंग्लैंड में ही थे। समाचार-पत्रों में पत्र लिखकर वे मार्कोनी की पोल आसानी से खोल सकते थे; किंतु उन्होंने यह नहीं किया—न उस समय, न अगले 36 वर्षों में। दिए दान को अर्पित कर प्रचार नहीं किया जाता, यह वे जानते थे। 'जगतेर कल्याण कामनार'—अपने स्वामित्वाधिकारों पर उससे होनेवाली आर्थिक प्राप्ति पर उस ऋषि ने अधिकार छोड़ दिया था। तो फिर 'इदं न मम' कहकर जिस 'श्रेय' को (तथा 'प्रेय' को भी) बसु ने नकारा था, वह श्रेय उन्हें मिले, इस हेतु 'इदं तस्यैव' करके हम एक शतक के बाद क्यों झगड़ें? यह सर्वथा अनुचित ही है। बसु की श्रेष्ठ, उदात्त, निष्काम भूमिका ध्यान में लेकर हम विवाद रोक दें तथा बसु ने जिसकी अपेक्षा नहीं की, उस श्रेय के लिए प्रयास न करें, क्या यही उचित नहीं है? ऐसा नहीं हुआ तो उनके चरित्र से हमने बोध ही क्या लिया?

(इस लेखन हेतु 'द टेलीग्राफ', 'सकाल' तथा 'महाराष्ट्र टाइम्स' जैसे समाचार-पत्रों में प्रकाशित वृत्तों का तथा Proceeding of the IEEE के जनवरी 1998 के विशेषांक में प्रकाशित प्रो. प्रवरि बंदोपाध्याय के लेख का उपयोग किया गया है। इन लेखकों एवं संपादकों को आभार।)

परिशिष्ट **5**

बसु : एक शतक बाद

जगदीशचंद्र बसु का अनुसंधान कार्य सन् 1894 से लेकर 1937 तक चला। यह लगभग सौ वर्ष पूर्व का समय है। उस समय विज्ञान आज जितना प्रगति नहीं कर सका था। नया जो कुछ खोजा जा रहा था, उसका व्यवहार में तथा नया अनुसंधान करने में उपयोग हो रहा था। कई खोजें ऐसी थीं, जिनका ज्ञान स्वयं अनुसंधानकर्ता तक को नहीं था। आज हम जानते हैं कि अमुक वस्तु या तत्त्व का उद्गम किसी एक वैज्ञानिक के किसी एक प्रयोग में है।

बसु के बारे में भी आज शतक भर के बाद ऐसा दिखाई देता है। पर धनात्मक तथा ऋणात्मक (p-type तथा n-type) सेमीकंडक्टरों के बारे में बताया गया है। बसु को इसका किंचित् ज्ञान था, किंतु उन्होंने बनाया 'तेजोमीटर' नामक प्रकाश संवेदक, जो दुनिया का पहला 'सोलर सेल' था, ये तो वे भी नहीं जानते थे। इस मापक पर प्रकाश गिरने पर 'फोटोवोल्टॅइक इफेक्ट' से उसमें विद्युत् दबाव बनता था, जो प्रकाश की मात्रा के समानुपाती रहता था। आज सभी 'सोलर पैनलों' के 'सोलर सेल' इसी तत्त्व पर काम करते हैं।

जिन पर बसु ने कार्य किया, वे विद्युत्-चुंबकीय तरंगें मस्तिष्क को हानि पहुँचाती हैं, ऐसा उन्होंने उसी समय बताया था। इन दिनों उच्च वोल्टेजवाले विद्युत् तार, मोबाइल फोन आदि से प्रसृत होनेवाली ऐसी तरंगों से मस्तिष्क, हृदय, जनसंख्या आदि पर होनेवाले बुरे परिणामों के बारे में बहुत कुछ बताया जा रहा है।

इन दिनों 'सायबरनेरिक्स' का विज्ञान काफी प्रगत हुआ है। किसी एक क्रिया करने पर मिलनेवाले प्रतिसाद के आधार पर अगली क्रिया करनेवाले यंत्र विकसित हुए हैं। इस विज्ञान की नींव बसु ने रखी, ऐसा कहा जा सकता है। इस विकास हेतु पदार्थ-विज्ञान एवं जीव-विज्ञान का एकात्मीकरण होना आवश्यक था, जिसके अग्रणी बसु रहे। इतना ही नहीं, विशेषीकरण की परमावधि के बाद अब संश्लेषीकरण की आवश्यकता प्रतीत हो रही है और उस हेतु आंतर विद्याशाखाभि अध्ययन महत्त्व का माना जा रहा है, ऐसा करनेवाले बसु पहले थे।

बसु के खोजे उपकरण उनके समय में ही अन्यान्य राष्ट्रों में बने एवं उपयोग में लाए गए। उस समय के तो वे उपयोगी उपकरण थे, किंतु अब इलेक्ट्रॉनिक उपकरण कई गुना अधिक अच्छे होने के कारण बसु के यांत्रिक उपकरण कालबाह्य हो गए हैं।

बसु का वनस्पति विषयक अनुसंधान अग्रसर एवं नूतनतम था। किंतु कोई भी अनुसंधान

कभी भी 'अंतिम' या 'परिपूर्ण' नहीं होता। नया अनुसंधान होता रहता है, पुराने निष्कर्ष सही या गलत साबित होते रहते हैं। जगदीश दा के भानजे डॉ. देवेंद्रमोहन बसु, जो बाद में 'बोस इंस्टीट्यूट' के संचालक रहे, कहते हैं, "जगदीश दा के समय वैद्युत्-प्रतिसाद का महत्त्व अत्यधिक माना जाता था। विद्युत्-प्रवाह से ही सजीवों के सभी कार्य नियंत्रित होते हैं ऐसी उस समय मान्यता थी। ऑक्सिन या हॉर्मोनों का ज्ञान न होने के कारण उत्तेजना एवं प्रतिसादों के बीच जो रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, उसका विचार तक भी उस समय किसी के मन में नहीं आया। किंतु इससे बसु का कार्य छोटा या हलका नहीं माना जा सकता। हरेक की अपनी एक मर्यादा होती ही है। बसु अपने समय से 50 वर्ष आगे थे किंतु 50 ही वर्ष आगे थे—100 वर्ष नहीं।

विज्ञान के क्षेत्र में बसु ने संश्लेषण के एकात्मीकरण का युग प्रवर्तित किया। यह उनका सर्वोपरि योगदान माना जाता है। उनके अनुसंधान का आज अकल्पित तरीकों से विभिन्न क्षेत्रों में उपयोग हो रहा है, जिसके लिए वैज्ञानिक उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। जून 1997 में, अमेरिका के डेन्वर में 'सूक्ष्म तरंगों (microwaves) की संकल्पना—सिद्धांत एवं खोज' विषय पर एक अंतरराष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन हुआ। इस क्षेत्र में बसु के योगदान के लिए एक पूरा सत्र बसु पर रहा। बसु पर एक प्रदर्शनी भी लगाई गई, जिसमें उनके सूक्ष्म तरंगों के अनुसंधान हेतु बनाए उपकरण, प्रकाश चित्र, तालिकाएँ, प्रकाशित वृत्तों की कतरन आदि का समावेश था। ऑरिझोना के 'National Centre for Radio-Astronomy' के संचालक डॉ. इमर्सन ने इस क्षेत्र की अध्यक्षता की। 'बोस इंस्टीट्यूट' के संग्रहालय प्रबंधक श्री दिवाकर सेन ने बसु के उस समय के उपकरणों के माध्यम से प्रात्यक्षिक प्रस्तुत किए। दूसरे दिन एक विशेष तरीके से बसु को गौरवान्वित किया गया। एडम्स होटल में आयोजित भोजोत्सव के समय दी गई मद्य की बोतलों पर 'रॉयल इंस्टीट्यूशन' में व्याख्यान दे रहे बसु का चित्र था।

डॉ. इमर्सन का एक लेख उसी महीने के 'आय-ट्रिपल ई' (Institute of Electrical and Electronic Engineers) की मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ, जिसमें वे लिखते हैं, "आज दुनिया के अनेक देशों में रेडियो दूरबीनों के माध्यम से खगोल का निरीक्षण एवं अनुसंधान हो रहा है। सभी खगोल वैज्ञानिक इसके लिए जगदीशचंद्र बसु के ऋणी हैं, क्योंकि उन्हीं के खोजे दोहरे लोलक का उपयोग करके ही इन दूरबीनों का एक महत्त्व का पुरजा—डबल प्रिज्म एंटेन्युएटक' बनता है। इस दृष्टि से सभी रेडियो दूरबीनें बसु पर निर्भर हैं!"

डॉ. इमर्सन आगे लिखते हैं—"बसु का नाम एवं कर्तृत्व भारत के बाहर बहुत कम लोग जानते हैं। उचित सम्मान एवं मान्यता से वे नित्य वंचित रहे। जगदीशचंद्र बसु अपने समकालीन वैज्ञानिकों से 50 वर्ष आगे थे।"

इस गोष्ठी में बसु पर हुए अन्याय का आंशिक परिमार्जन करने का प्रयास हुआ। उसके बाद IEEE ने अपना जनवरी 1998 का अंक 'डायोड डिटेक्ट की खोज की शताब्दी' एवं 'ट्रांजिस्टर के खोज की अर्धशताब्दी' के उपलक्ष्य में एक विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया। उसमें प्रो. प्रवरि बंदोपाध्याय ने 'दुनिया के पहले रेडियो संदेश के ग्रहण के लिए

उपयोग में लाया गया ग्राहक बसु ने खोजा था', ऐसा सिद्ध किया है। (कृपया परिशिष्ट 4 देखें) IEEE के वैज्ञानिक रेडियो भौतिकी में किए अनुसंधान के लिए बसु की स्मृति में एक पुरस्कार रखने का सोच रहे हैं। बसु को उचित श्रेय मिले, इस हेतु।

इस पृष्ठभूमि पर भारत में क्या स्थिति है? बसु के महान् एवं क्रांतिकारी कार्य से हम लगभग अनभिज्ञ ही हैं।

प्रस्तुत जीवनी इस कमी को दूर करने का ही एक विनम्र प्रयास है।

(इस परिशिष्ट के लेखन में 'साइंस टुडे', 'लोकसत्ता', 'द टेलीग्राफ' तथा 'सानंदा' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखन का साभार उपयोग किया गया है।)

परिशिष्ट **6**

संदर्भ सूची

(क) मराठी पुस्तकें

1. सर जगदीशचंद्र बसु, रा.गो. कानडे, ऐक्य प्रकाशन, पुणे 2; सन् 1937
2. डॉ. जगदीशचंद्र बसु, श्रीमती हरिप्रसाद, भारत-भारती बाल पुस्तकमाला प्रकाशन, नागपुर 2; सन् 1992
3. जगदीशचंद्र बसु, यदुनाथ थत्ते, चित्रशाला प्रेस प्रकाशन, पुणे 30; सन् 1972
4. डॉ. जगदीशचंद्र बोस, मृणालिनी ढवळे, भारती प्रकाशन, पुणे 30, 1991
5. समर्पिता निवेदिता, अंजनी गोखले, सेविका प्रकाशन, पुणे 4; शक 1914
6. भगिनी निवेदिता, प्रव्राजिका आत्मप्राणा, रामकृष्ण मठ, नागपुर 12; सन् 1993
7. योगीकथामृत, परमहंस योगानंद, वोरा एंड कं., मुंबई 2; सन् 1979
8. स्वामी विवेकानंद ग्रंथावली, खंड 10, रामकृष्ण मठ, नागपुर 12; सन् 1989
9. गुणसागर टिळक, ह.त्र्यं-देसाई, पुणे विद्यार्थी गृह प्रकाशन, पुणे 30; सन् 1977

(ख) अंग्रेजी पुस्तकें

1. Jagdish Chandra Bose, Visvapriya Mukherji, Publications Division, New Delhi; 1983
2. Jagdish Chandra Bose, Monoranjan Gupta, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai 1964
3. Jagdish Chandra Bose, S.N. Basu, National Book Trust, New Delhi, 1970
4. Jagdish Chandra Bose : Amar Chitra Katha No. 325, Editor : Anant Pai, 1 BHG Publisher4s Pvt. Ltd., Mumbai 26, January 1, 1985
5. J.C. Bose speaker, Editors : Dibakar Sen, Ajay Kumar Chakraborty, Puthipatra, Kolkata G; 1986
6. The Secret Life of Plants, Peter Tompkins and Christopher Bird, Harper and Row, New York; 1973
7. The Life and Work of Sir J.C. Bose, Patrick Geddess, Longmans, Green & Co., 1920

8. Sir J.C. Bose : His life, Discoveries and writings, G.A. Natesan & Co., Chennai, 1921
9. J.C. Bose : His Life and Speeches, Ganesh Co., Chennai
10. The complete works of Sister Nivedita, Vol. 5, Advaita Ashram, Kolkata; 1975
11. Vivekananda in Indian Newspapers (1893-1902), Editors : S.P. Basu and S.B Ghosh, Basu Bhattacharya & Co., Kolkata 6; 1969
12. Complete works of Mahatma Gandhi, Vols. 13-17, 16,19, 21, 23, 27, 33-34,36-38, 45, 48, 59-60, 67 and 71 The Publications Division, Govt. of India, New Delhi 1

(ग) बँगला पुस्तक

चिट्ठीपत्र, षष्ठ खंड, रवींद्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती ग्रंथन विभाग, कलकत्ता; 1957

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

मराठी

2. लोकसत्ता, मुंबई; 30 जुलाई, 1997
3. सकाल, पुणे; 27 जून, 1993; 5 नवंबर, 1997
4. महाराष्ट्र टाइम्स, मुंबई; 4 एवं 5 नवंबर, 1997
5. केसरी, पुणे; 4 दिसंबर, 1917; 8 एवं 29 जनवरी, 1918; 5, 19 एवं 26 फरवरी, 1918

हिंदी

6. केंद्र भारती, विवेकानंद केंद्र प्रकाशन, नई दिल्ली; नवंबर 1981

अंग्रेजी

7. Science Today, Times of India Publication, Mumbai, November, 1983.
8. The Telegraph, Kolkata 1, 2 and 16 November, 1997; 18 January, 1998
9. Proceedings of the IEEE, U.S.A.; Vol. 86, No. 1; January, 1998

बँगला

10. सानंदा, आनंदबाजार पत्रिका प्रकाशन, कलकत्ता; 27 फरवरी, 1998

Endnote

* निवेदिता से इतने नजदीकी संबंध होने के बावजूद इस काल में (1898-99) बसु का स्वामी विवेकानंद से संबंध होने—कम परिचय होने—का उल्लेख तक नहीं मिलता। "The Indian Mirror" में 23 अप्रैल, 1898 के दिन, एमेरॉल्ड थिएटर में हुए स्वामी शारदानंद के Hindu Mission in America इस व्याख्यान का वृत्त छपा है। स्वामी विवेकानंद के व्याख्यान के लिए निवेदिता, सारा बुल तथा बसु के उपस्थित होने का उल्लेख है, लेकिन बसु की विवेकानंद से बातचीत हुई या नहीं यह पता नहीं। उल्लेख हो या नहीं, बसु तथा स्वामीजी एवं दूसरे से परिचित थे, यह निश्चित है। क्योंकि निवेदिता से ये दोनों व्यक्ति इतने नजदीक थे कि उन्होंने एक-दूसरे के बारे में कुछ बताया नहीं होगा, यह असंभव है। और वैसे भी, स्वामी विवेकानंद इतने प्रसिद्ध व्यक्ति थे कि संभव होते हुए भी बसु उनका परिचय न करवा लें, यह भी असंभव है।

* इनके नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

* इनके नाम का उल्लेख बसु ने कहीं नहीं किया है; लेकिन संभवत: वे उनके चरित्रकार पैट्रिक गिड्स ही होंगे। निवेदिता उनके निजी सचिव के रूप में काम कर रही थीं।

* डॉ. म्युइरिहेड के अलावा ये और कौन हो सकता हैं?

* परिशिष्ट 4 देखें।

* इनमें से कुछ उपकरणों की जानकारी परिशिष्ट में दी गई है, वह कृपया देखें। इससे निष्कर्ष भरोसेमंद नहीं रहते। इसलिए मिनटों में मापन करनेवाले उपकरण आवश्यक हैं।

* इसकी सूची परिशिष्ट में दी गई है, कृपया वह देखें।

* बसु का मत सही होने की पुष्टि जापानी वैज्ञानिक सिबाओका ने की है। ऐसी जानकारी 'साइंस टुडे', नवंबर 1983 में प्रकाशित एक लेख में सुनंद बसु ने दी है।

* यह जानकारी 'साइंस टुडे' के नवंबर 1983 के अंक से संकलित है। रेखाचित्र भी वहीं के हैं। लेखक श्री सुनंद बसु आरेखक सर्वश्री बी.के. दत्त एवं दिवाकर सेन तथा 'साइंस टुडे' के तत्कालीन संपादक एवं प्रकाशक को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद—लेखक।